फ़ादर कामिल बुल्के

एक संत साहित्यकार की याद



बाबा बुल्के : एक स्मृति

मानरेसा हाउस रांची में बाबा कामिल बुल्के के साथ मैं तीन साल तक रहा। सन्यास-जीवन में वे मुझ से पूरे पैंतीस साल आगे थे। वह अक्सर कहा करते—'अब मैं बूढ़ा हो गया।' भोजनोपरान्त मानरेसा हाउस-संन्यास परिवार की गोष्ठी जमती और गपशप होती थी। मैं उनके साथ खूब चंचल स्वभाव करता था। कभी उनकी श्वेत दाढ़ी पर मजाक छेड़ता, तो कभी उनके अस्त-व्यस्त परिधान की हंसी उड़ाता। कभी उन्हें हंसी का पात्र सिद्ध करता तो, कभी खुद ही हंसी का पात्र बनता। मनोरंजन के इन क्षणों में वे मुझे 'बेटा' कह कर पुकारते थे। इससे अन्य धर्मभाई मुझे चिढ़ाया करते। एक बार मैंने प्रश्न किया, 'पण्डितजी आप तो कहते हैं कि हिन्दी भारत की बहूरानी है और अंग्रेजी उसकी नौकरानी—तो लैटिन उसकी क्या लगती है ?' उन्होंने उत्तर दिया—'हां'''उसकी मौसेरी बहन की कोई बहन होगी।' तपाक से मैंने पूछा, 'तो आप लैटिन में क्यों पूजा की प्रार्थना पढ़ते हैं ?' वे पकड़े गए। झेंप मिटाते हुए उन्होंने कहा, 'क्योंकि प्रार्थना-ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अच्छा नहीं।' दमा की गोलियां खाते तो बड़ी हंसी आती थी ! मैं कहता, 'यह क्या, दवा की गोलियां आप गले से नीचे ऐसे उतारते हैं, मानों मुर्गी पानी पी रही हो !' वे कहते, 'रात बहुत खराब बीती, कुछ भी आराम नहीं, अधिक काम नहीं कर सका। बाइबल का अनुवाद का काम बहुत बाकी है।' मैं जोड़ देता, 'देखिए, बाइबल का काम पूरा किए बिना आपको स्वर्ग नहीं जाना है।' वे कहते, 'मैं भी यही सोचता हूँ।' मैं कहता, 'इस दुनिया से जाते वक्त आप अपना बाइबल अनुवाद और अंग्रेजी-हिन्दी कोश लेते जाएंगे।' वे एक बच्चे की सरलता से श्वेत दाढ़ी के बीच हंस देते।

फादर अगापित तिर्की, एस. जे.,
सन्त स्तानिस्लास कालेज,
सीतागढ़—हजारीबाग

फादर कामिल बुल्के

एक संत-साहित्यकार की याद

सम्पादक
शंकर दयाल सिंह

प्रकाशक
'मुक्तकंठ'
डाकबंगला रोड,
पटना-१

FATHER CAMIL BULKE
EK SANT SAHITYAKAR KI YAD
Price : Rs. Fifteen Only



मुख्य वितरक
हिन्दी बुक सेन्टर,
आसफअली रोड, नई दिल्ली
तथा
पारिजात-प्रकाशन
डाकबंगला रोड, पटना-८००००१



प्रथम संस्करण : नवम्बर १९८[illegible]
मूल्य : मात्र पन्द्रह रुपये



प्रकाशक : 'मुक्तकंठ'
डाक बंगला रोड, पटना-८००००१



मुद्रक :
सरस्वती प्रिंटर्स, मेन रोड, गाँधी नगर, दिल्ली-३१

अनुक्रम

□ □ □

भूमिका

प्रस्तावना

सम्पादकीय



'फादर कामिल बुल्के : एक संत साहित्यकार की याद' के बारे में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नही समझता, क्योंकि उनके बारे मे इतना कुछ कहा गया है और आगे भी कहा जाता रहेगा कि वह सब मात्र औपचारिकता न होकर, धरोहर है।

बाबा बुल्के, संत बुल्के, पिता बुल्के, फादर बुल्के और रामकथा के अमर गायक बुल्के ! एक ही व्यक्ति के सन्दर्भ में इतने विशेषणों का एक साथ आना, किसी भी युग अथवा साहित्य अथवा साहित्यकार के लिए गौरवपूर्ण उपलब्धि है।

'एक संत साहित्यकार की याद' पुस्तक रूप में आपके सामने है, जिसकी प्रेरणा मुझे डॉ० कर्ण सिंह द्वारा मिली, जो स्वयं साहित्य, अध्यात्म, संस्कृति और सामाजिक चेतना के सजग प्रहरी हैं और जिन्होंने फादर कामिल बुल्के के वियोग को व्यक्तिगत क्षति के रूप में भी लिया है।

'विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान' का योगदान इस पुस्तक के प्रकाशन मे अयाचित अनुराग है।

और अन्त में उन लेखकों के प्रति विशेष कृतज्ञता ज्ञापन करना आवश्यक समझता हूँ, जिन्होंने मेरी प्रार्थना को अपने कर्तव्य के अन्तर्गत लिया। सरस्वती प्रिंटर्स और दिल्ली प्रिंटर्स की सौजन्यता ने इसे स्थायी आकार देकर आप तक पहुँचाया।

फादर कामिल बुल्के के विशाल व्यक्तित्व के पास में भी यह लघु-पुस्तिका नहीं है, लेकिन इसके पीछे हम सबों की श्रद्धाभाव का आदर आप अवश्य करेंगे, यह हमारी प्रार्थना है।

सम्पादक

फादर कामिल बुल्के
प्रथम और अंतिम मुलाकात

—डा० कर्ण सिंह

फादर कामिल बुल्के से मेरा प्रथम परिचय कुछ अजब परिस्थितियों में हुआ, जबकि मैं ठीक से जानता भी नहीं था कि किनसे मिलने जा रहा हूं।

1967 में मैं जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल पद से सीधा केन्द्रीय सरकार में पर्यटन मन्त्री मनोनीत हुआ और उसके दो-तीन महीने बाद बेलजियम के महाराजा बादुवा का भारत आगमन हुआ और सरकारी परम्परा के अनुसार केन्द्रीय मन्त्री के रूप में मैं उनके साथ प्रभारी मन्त्री के रूप में नियुक्त हुआ। उनके विस्तृत कार्यक्रम में रांची भी सम्मिलित था, जहां कई वर्षों से बेलजियम मिशन काम कर रहा है।

रांची हवाई अड्डे पर उतरते ही अन्य गणमान्य नागरिकों तथा अधिकारियों के बीच मुझे एक दिव्य व्यक्तित्व दिखाई दिया—लम्बी दाढ़ी, धवल वस्त्र, आपाद मस्तक पवित्रता की मूर्ति, तांबे और सोने का सम्मिलित रूप लिए चेहरा। उसी समय यह परिचय कराया गया कि ये हैं फादर कामिल बुल्के। मैंने पहले से भी उनका नाम सुन रखा था।

मेरा यह अनुमान था कि बेलजियम के शाह उनसे बेलजियम में प्रचलित भाषा फ्रांसीसी में बातें करेंगे, जिसे मैं भी समझ लेता। लेकिन वे किसी और भाषा में वार्तालाप करने लगे। मैंने जब उसी बीच फादर कामिल बुल्के से पूछा कि आप किस भाषा में बातचीत कर रहे थे? तो उन्होंने बताया कि यह मेरी मातृभाषा फ्लेमिश है।

उसके बाद फादर बुल्के से मेरी अनेकों बार मुलाकात होती रही। [illegible] में 1976 में जब द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में मैं भारतीय प्रतिनिधि [illegible] नेता था, तो वह भी शिष्ट मण्डल के एक मान्य सदस्य के रूप में उनसे [illegible] लगभग एक सप्ताह तक हम एक साथ रहे और उस बीच फादर [illegible] विद्वता, सौजन्यता तथा हिन्दी के प्रति उनके समर्पण-भाव को देखने [illegible] मौका मिला।

किसी विदेशी व्यक्ति का भारत के प्रति, भगवान [illegible] तुलसीदास के प्रति और राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति इस तरह [illegible] कर हमारा रोमांचित होना स्वाभाविक था। हिन्दी के [illegible] कामिल बुल्के ने अपना स्थान केवल लेखन के बल पर [illegible] के कारण भी बना लिया था।

मुझे उनके साहित्य के विशद अध्ययन का मौका नही मिला लेकिन उनके द्वारा सम्पादित 'अग्रेजी-हिन्दी कोष' को मैं बराबर अपनी टेबुल की दराज मे रखता हूं और प्रामाणिक रूप से जब कभी आवश्यकता होती हैं उसका प्रयोग करता हूं।

फादर कामिल बुल्के से मेरी आखिरी मुलाकात इसी वर्ष 23 अप्रैल, 1982 को रांची मे उनके निवास स्थान पर तथा एक अन्य समारोह मे हुई। मैं 1957 के सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी बाबू कुंवर सिंह की जयन्ती के अवसर पर रांची मे एक समारोह मे भाग लेने गया था, हवाई अड्डे पर उतरते ही मैंने यह जिज्ञासा प्रकट की कि फादर कामिल बुल्के से मिलने जाऊंगा क्योंकि मैंने सुना था कि वे अस्वस्थ हैं। आयोजको ने मुझे यह सूचना दी कि बुल्के साहब आज के समारोह में आने वाले है, अतः वहा मुलाकात होगी। लेकिन मेरा मन नही माना और मैं सीधा हवाई अड्डे से फादर कामिल बुल्के से मिलने उनके निवास स्थान पर गया जहाँ अन्य मिशनरियों के साथ वे रहते थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है उनके आवास के बगल में ही एक चर्च भी था।

फादर कामिल बुल्के जिस उत्साह, प्रेम और अपनापन के साथ मुझसे मिले उसका वर्णन करना कठिन है। उन्होने मुझे बाहों मे भर लिया और अपनी छाती से लगा लिया तथा उनकी सफेद दाढी मेरी पीठ पर झूलने लगी। उसके बाद लगभग आधे घण्टे तक मैं उनके पास रहा। हिन्दी के सम्बन्ध मे ही अधिकांश बातें होती रही। मुख्य रूप से उन्होने तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन तथा राष्ट्रभाषा के सामने अन्य संकटो की चर्चा की और मुझे बार-बार कहते रहे कि मैं जो कुछ हिन्दी के लिए कर रहा हूं उससे राष्ट्र भाषा को बहुत अधिक बल मिल रहा हैं।

मैने उस मुलाकात मे यह पाया कि डाक्टर कामिल बुल्के अतिशय वृद्ध नजर आ रहे हैं और अस्वस्थ भी। मैंने उन्हें बार-बार यह भी कहा कि आप यहाँ से दिल्ली चले चलें जहाँ उचित उपचार की व्यवस्था होगी। मेरा ख्याल है कि यदि वे उसी समय मेरी प्रार्थना मानकर दिल्ली चले आते तो शायद उनके रोग पर काबू पाया जा सकता था।

23 अप्रैल,1982 की सध्या समय बाबू कुवर सिंह जयती मे मैं मुख्य अतिथि के रूप मे शामिल हुआ था और मुझे खुशी हैं कि उस समारोह का उद्‌घाटन फादर कामिल बुल्के ने किया। जिस सौम्य, मर्यादित, गम्भीर और विषय के अनुरूप उन्होंने भाषण दिया था वह अभी तक मेरे कानों मे गूँज रहा है। यही थी मेरी फादर कामिल बुल्के से आखिरी मुलाकात, जिस स्मृति को मैं कभी भूल नही सकता।

मानसरोवर
न्याय मार्ग, चाणक्यपुरी
नई दिल्ली

स्व. बुल्के जी

—डा० प्रभाकर माचवे

मैंने एक बार इलाहाबाद में एक गोष्ठी में कामिल बुल्के को 'हनुमान' कह दिया था। वे लाल-लाल हो उठे थे। गोरे तो थे ही। केरल में हनुमान दाढ़ी वाले होते हैं, कथकलि में। यह विरद मैंने उन्हें दो कारणों से दिया था। एक तो वे विश्व-विश्रुत राम-भक्त थे। दूसरे वे इस मूर्च्छित हिन्दी-शोध प्रदेशीय राम-कथा का पूरा पर्वत उठाकर ले आये। अब आप जो चाहो तो जड़ी-बूटी उसमें से खोज लो। 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।'

बुल्के जी से मिलना अक्सर सभा-समारोहों में ही होता था—क्या प्रयाग, क्या दिल्ली, क्या नागपुर, क्या कलकत्ता, क्या और कहीं। इधर तो सुनने की मशीन लगाकर बैठते थे। पर जब उनकी श्रवण शक्ति अच्छी थी, तब वे एकबार मेरे घर दिल्ली में पधारे थे। 'राम कथा का विकास' की एक संवर्द्धित संशोधित प्रति देने। तब मेरे श्वसुर पारनेरकर (जो गांधी जी के साथ आजीवन रहे) जीवित थे। बुल्के गांधी जी की रामायण में रुचि के बारे में बड़ी देर तक पूछते रहे।

बुल्के जिज्ञासु थे, भक्त थे, आतार्ती थे, ज्ञान पथ के सहप्रवासियों के दिशा-दर्शक यंत्र थे, सेवाव्रती थे, अत्यन्त सादगी-पसन्द थे। और अपनी आंखें और कान बराबर खोले रखते थे। अपने धर्म में दृढ़ थे, पर असहिष्णु नहीं थे। और सब धर्मों के विचारों को जानना चाहते थे। वे विलक्षण धुन के व्यक्ति थे। कोश जैसे कार्य अकेले संपन्न करना उनके बल-बूते का काम था। विलक्षण 'निश्चयात्मिका बुद्धि' और संकल्प की शक्ति के साथ-साथ सौम्यता और शालीनता उनमें कूट-कूटकर भरी थी।

एक बार कलकत्ते की किसी गांधीवादी संस्थान ने उन्हें विमान से बुलाया। व्याख्यान उनका और मदर टेरेसा का रखना चाहते थे। जब वे आ गये और सेंट जेवियर्स सेमेनरी में ठहरे थे तो मैं मिलने गया। उक्त आमंत्रक सज्जन ने कहा—हमने तो तार भेज दिया था, प्रोग्राम कैन्सिल हो गया था। बाद में उन्हें किराया भी इस संस्थान ने नहीं दिया। वे बहुत दुखी थे। पर गांधी के तीन बन्दरों की बात कहकर बोले—मैं अब कान से सुनता कम हूं। अब मुंह पर भी दोनों हाथ रख लूंगा।

बुल्के जी हिन्दी के आग्रही थे। कई बार सम्मेलनों में, सरकारी जमावड़ों में, और सब अफसर (हिन्दुस्तानी) अपनी-अपनी अंग्रेजी छांटते रहते तो बुल्के प्रखर वाणी में केवल हिन्दी में बोलते। आखिरी बार उनसे मिलना हुआ कलकत्ते में एक बड़े रेलवे हिन्दी सलाहकारी समिति के समारोह में। शिवसागर मिश्र ने उन्हें और मुझे विशेष वक्ता के नाते बुलाया था। वे नपा तुला बोले, पर उनका आशय यही था कि 'हिन्दी भारत के जन साधारण की भाषा है। उसकी अपेक्षा भारत के जन-मन-गण की उपेक्षा है।'

बुल्के जी पर एक अभिनन्दन ग्रंथ रांची में तैयार हो रहा था। मैंने उसके लिए एक लेख लिखा। वह डाक में खो गया। दुबारा लिखा। रांची को लेकर वे खुद काफी मजाक अपने ऊपर करते—"हां, पागलों के बीच रहकर मैं स्वयं आधा पागल हो गया हूं।" इलाहाबाद के विश्वविद्यालय के दिन उन्हें बहुत याद आते थे। धर्मवीर भारती, रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, जगदीश गुप्त, गंगा प्रसाद पाण्डेय—ये सभी उनके साथी थे। तब 'परिमल' नया-नया जुटा था। मैंने उसमें कई निबंध पढ़े हैं। मैं बोलने जाता तो उसमें बुल्केजी अवश्य शामिल होते। उनकी बड़ी इच्छा थी कि मराठी के एकनाथी आचार्य-रामायण का अनुवाद मैं हिन्दी में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के लिए कर दूं। वह बड़ा श्रमसाध्य और समश्लाघ्य कार्य है। राष्ट्रभाषा परिषद को कई बार लिखा वे मुझे कन्ट्रैक्ट लिखकर भेजें। वे कहते हैं पहले मैं पूरा अनुवाद करके उन्हें भेजूं। उसके बाद वे चाहेंगे तो छापेंगे या नहीं छापेंगे। चाहेंगे तो पारिश्रमिक देंगे या नहीं देंगे। ऐसा किसी संस्थान ने मेरे साथ आज तक नहीं किया। मैंने बुल्केजी से कहा—वे हंसे। बोले—'अब मेरा वहां कोई जोर नहीं रहा। सब हिन्दी की साहित्य सस्थाएं ऐसी ही हो गयी हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद और नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी का हाल बेहतर नहीं।'

उनका दर्द यही था कि हिन्दी की संस्थाएं खा गईं।

भारतीय भाषा परिषद
शेक्सपियर सरणी, कलकत्ता

राम सनेही ना मेरे

प्रो० केसरी कुमार

उस दिन (8-8-82 को) अज्ञेय जी, इला जी, डा० विद्यानिवास मिश्र, श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' और हम फादर कामिल बुल्के को देखने कुर्जी होली फैमिली अस्पताल गये। मालूम हुआ कि तिमजिले पर हैं। हम लोगों के पाँव बढ़े ही थे कि एक व्यक्ति ने बताया कि बीमारी की गम्भीरता के कारण अभी थोड़ी देर पहले सवेरे के हवाई जहाज से उन्हें दिल्ली भेज दिया गया है। हम लोग उदास पास की उमड़ती गंगा को देखते रहे।

फादर कामिल बुल्के इसी गंगा की तरह पवित्र थे और इसी गंगा के तट से खुलनेवाली बस में उनसे मेरी पहली भेंट हुई थी। आज से लगभग तीस साल पहले। मेरा तबादला पटना कालेज से रांची कालेज में हुआ था और वे वहीं संतजेवियर्स कालेज में हिन्दी और संस्कृत के विभागाध्यक्ष थे। हम दोनों रांची जा रहे थे और मेरी सीट उनकी बगल में थी। उनके हाथ में हिन्दी की एक ऐसी किताब थी कि मैंने अनुमान लगा लिया कि ये जरूर फादर बुल्के हैं। लम्बा कद, छरहरा शरीर, स्वच्छ सोने से भी अधिक सुन्दर सुनहरे बाल, आँखों में भूरा संन्यास, एक आदमकद सौम्य आकृति। बात मैंने ही शुरू की—फादर, मैं केसरी कुमार हूँ। उन्होंने हिन्दुस्तानी अन्दाज में, बिना कन्धे उचकाये, हंसने के अन्दाज में ओठ खोले, किताब रखी, छाती पर की जेब से सुनने का यन्त्र निकाल कर समायोजित किया (वे तब भी यन्त्र के सहारे ही सुन पाते थे) और हमारे दोनों हाथों को अपने दोनों हाथों में लेकर झकझोरने लगे—केसरी कुमार, हमारे सहयोगी, रांची में आये आपको इतने दिन हुए और हम लोग रांची में न मिलकर बस में मिल रहे हैं, पर हम संन्यासियों को क्या, जैसा घर, वैसा बस। और जानते हैं, मिलने का समय भी निश्चित रहता है। तभी बस ने भोंपू बजाया और आगे सरकी, पर कुछ ही दूर आकर रुक गई। एक चक्के की हवा रिस रही थी। अब चक्का बदलना पड़ेगा। मैंने विनोद से कहा—घर और बस का फर्क देख लिया न। बस है बेबस। मेरे एक मित्र ने कबीर की ओर से एक पेरोडी बनाई है—चलती को गाडी कहे, बने दूध को खोया। बेबस को जो बस कहे देख कबीरा रोया। आसपास के सहयात्री हंस पड़े और फादर तो लोटपोट हो गये। बोले—कबीर दास हमसे बड़े संत थे, पर परवाह मत कीजिए, हम इन्जीनियर होते-होते संन्यासी हुए हैं। हमने पान

खाने की गरज से उतरने की इजाजत माँगी तो हाथ दबाते हुए बोले—पान ही कीजिएगा, भोजन अगले पड़ाव पर होगा। मैंने भी छूटते ही कहा—हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बार पटना रेलवे स्टेशन पर जब यह लतीफा सुनाया था तब नलिन विलोचन शर्मा ने धीरे से कहा था—वे सज्जन शायद बलिया के थे।

थोड़ी देर बाद बस चली और कई पड़ावों पर रुकती हुई दोपहर के भोजन के लिए एक जगह रुकी। एक छोटे-से नाश्ता-डब्बे से बिस्कुट निकालते हुए बोले—लेंगे एक, पर्ले या बिस्कुट है। अच्छा है (तब वे 'छ' का उच्चारण 'च' की तरह करते थे)। धन्यवाद देते हुए मैंने कहा कि घर से खाने का सामान ले आया हूँ, बल्कि आप ही कुछ लें, बहुत अधिक है। उन्होंने एक हाथ को पेट पर रखते हुए कहा—ओ, आपको नहीं मालूम होगा कि मेरे पेट में अल्सर है। कान में घाव, पेट में घाव। भगवान ने दो पहरेदार बैठा दिये हैं और हिदायत कर दी है—कम सुनो, कम खाओ। और मुझे महासंत स्वामी शरणानन्द से, जिनके सम्पर्क वश गिरफ्त में मैं राँची-प्रवास में आ गया था, सुनी हुई भगवान के आशिकों की परिभाषा याद आ रही थी—

गुलजारी, बेकरारी, बेखबर
आह सर्दो, रंग जर्दो, चश्मतर
कम खुरो, कम गुफतनी, ख्वाबे हराम
आशिकारां, नवनिशां, ऐ पिसर।

हम फिर बस में थे और अब हजारीबाग के संत कोलम्बस कालेज के सामने थे। हवा ठंडी हो चली थी। कालेज की इमारत से कोई झाँक नहीं रहा था पर मुझे बरबस लग रहा था मानो उस प्रशस्त भवन की सुरुचि और सादगी के हर पहलू से एक व्यक्ति का समर्पित कृतित्व झाँक रहा है और वह व्यक्ति है प्राचार्य मारखम। उनके शरीर और वस्त्र के रंग हिन्दुस्तानी होकर भवन से एक हो गये हैं। प्रिंसिपल मारखम और फादर कामिल बुल्के, दक्षिण बिहार में कार्यरत ये दोनों विदेशी हिन्दी के निश्छल हिमायती थे। मारखम साहब को हिन्दी बोलने में कष्ट होता था पर विश्वविद्यालय की अधिपद में जहाँ अनेक बिहारी भोजपुरिया या दरभंगिया लहजे में विद्रूप अंग्रेजी बोलते थकते न थे, वे हिन्दी में ही बोलना पसन्द करते थे। फादर बुल्के यदि 'छ' का उच्चारण 'च' की तरह करते थे तो मारखम साहब दीर्घ को प्रायः लुप्त कर देते थे, खास कर हूँ का उच्चारण लम्बा और तान कर करते थे। मारखम साहब गृहस्थ होकर संन्यासी थे। घास की रस्सी से बुनी खाट पर सोते थे। फादर बुल्के सन्यासी होकर गृहस्थ थे। लड़कों का पता-ठिकाना रखते थे, किस लड़के को फीस चुकाने में दिक्कत हो रही है, किसे किस किताब की जरूरत है, सबका हिसाब रखते थे।

रांची पहुँचते-पहुँचते बस एक बार फिर खराब हुई। बुल्के साहब ने मेरे कान में कहा—अब मैं इंजीनियर बनने का अभिमान नहीं करूँगा। मैंने सड़क के नीचे बह रही एक पतली नदी के किनारे बने आश्रम की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि इस आश्रम में पागल बाबा रहते हैं। वे भी कभी एक अच्छे मैकेनिक थे। इसलिए आप कष्ट न करें तो भी काम चल जायेगा। फादर बच्चों की तरह हँसे—अरे, तब तो वे हमसे वरीय इंजीनियर हैं, चलिए उन्हें नमस्कार कर आया जाय। पागल बाबा राम-प्रेमी हैं न ? मैंने कहा—तभी तो बाबा पागल बाबा हुए। कबीर ने तो कहा ही है—

राम वियोगी ना जिवं, जिवं तो बौरा होई।

फादर कुछ गम्भीर हो गये—वे यहाँ भी हमसे वरीय हैं। मैं तो न मुक्त हुआ, न पागल। पर मैं राम-स्नेही हूँ जो कभी नहीं मरता।

रांची पहुँचकर हम लोग अलग-अलग हुए पर तबसे अधिक पास-पास रहे। उनकी 'राम-कथा' मैं पढ़ गया था और चमत्कृत भी हुआ था कि जो काम आदि-काल के लिए महापंडित राहुल सांकृत्यायन कर गये वही काम रामकथा के प्रसंग में डा० बुल्के ने कर दिखाया, पर बहुत जगहों पर मुझे शंका और आपत्ति हुई थी। कई बार मुझे लगा था कि यह इसाई दृष्टि से, औपनिवेशिक पकड़ से ग्रस्त है।

राधाकृष्ण (प्रेमचन्द के प्रिय और अपने समय के सुप्रसिद्ध कथाकार जो घोष-बोस-बनर्जी-चटर्जी के नाम से भी कहानियाँ लिखकर धूम मचा चुके थे), सुरेशप्रसाद (जो रांची महिला महाविद्यालय के संस्थापक अग्रणी तथा एक समाजवादी चिन्तक थे) और हम तीनों हर शाम कहीं-न-कहीं मिल बैठते थे प्रायः विनोदाश्रम के पास निताई बाबू के चाय-घर में। ढेर सी बातें होतीं, साहित्यिक-गैर-साहित्यिक। इस गोष्ठी में 'रामकथा' भी अनेक बार चर्चित-परिचर्चित हुई थी। कई-कई बार यह गोष्ठी स्वयं फादर बुल्के के अध्ययन-कक्ष में या उनके सामने वाले बरामदे में बैठी थी और यही समाधान हुआ था कि रामकथा, पूर्व निश्चित की खोज नहीं, सत्य के संधान की एकाकी यात्रा है तथा जहाँ हम पूर्व-नियोजन देख रहे थे, वहाँ हम ही अतिरंजित एवं असहज दृष्टि बनाये हुए थे।

फादर बुल्के के साथ अनेक गोष्ठियों और सम्मेलनों में भाग लेने के अवसर मिलते रहे हैं और हर सम्पर्क मुझे पवित्रतर कर गया है। वे तुलसीदास के विपक्ष में आलोचना सुन नहीं सकते थे। उन्हें लगता ही नहीं था कि कोई विवेकशील आदमी तुलसीदास के विरुद्ध कुछ कह सकता है। सो एक बार रांची कालेज की तुलसी-जयन्ती में जब हमारे एक कनीय सहयोगी श्री नागेश्वरलाल (अब डा० और वरीय रीडर) ने तुलसीदास पर कुलीन अत्याचारों के अनेक आरोप लगाए, डा० फादर कामिल बुल्के दोनों हाथ कानों पर रखकर सिर धुनते रहे और चलते समय

नाटकीय ढंग से बार-बार सभा-भवन को प्रणाम करते हुए बोले—यह भवन धन्य है जहां ऐसा भाषण सुनने को मिला।

पटना में वे संतजेवियर्स स्कूल में अन्य फादरों के साथ अपने ढग से ठहरते थे, इसलिए यहाँ समारोहों में उनको ठहराने की चिन्ता किसी को नहीं होती थी। इसके कारण उन्हें असुविधा भी हो जाती थी। वे बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति के मनोनीत सदस्य थे। एक बार तुलसी जयन्ती समारोह में आये। सम्मेलन ने बदस्तूर उन्हें रेल यात्रा का भत्ता दिया। यह तो बाद को पता चला कि कारणवश वे हवाई जहाज से आये थे।

1975 के विश्व हिन्दी सम्मेलन नागपुर में, फादर बुल्के एक विशेष हैसियत से सम्मिलित हुए थे। वे एक साथ ही दो देशों, बेलजियम और भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। मैं भी गया था। उसमें सात विचार गोष्ठियाँ हुई थीं। एक विचार-गोष्ठी के अध्यक्ष मंडल में फादर बुल्के थे और एक गोष्ठी में मैं था, पर मुझे फादर बुल्के वाली गोष्ठी में भी बोलने को आमन्त्रित किया गया था। यह गोष्ठी पूर्ण अधिवेशन के प्रातःकालीन सत्र में 12 जनवरी को हुई थी, मुख्य पंडाल में। इस गोष्ठी के अध्यक्ष मंडल में थे श्री पी० वी० नरसिंहराव, डा० फादर कामिल बुल्के तथा प्रो० अली एहसान (बंगला देश)। सचालन भगवतशरण उपाध्याय ने किया था। वक्ता थे सर्वश्री गुलाबदास ब्रोकर, एन्जोतुबियानी, (इटली) डा० शिवमंगल सिंह सुमन, जैनेन्द्रकुमार, श्रीमती निर्मला देशपांडे, केसरी कुमार, श्री बशीर अहमद मयूख, कमला प्रसाद मिश्र (फीजी)। अध्यक्षीय भाषण में फादर बुल्के ने कहा था कि भारत एक धर्म-प्रधान देश है किन्तु धर्मपरायणता के कारण उसके साहित्य में एकांगीपन नहीं आया है वरन सर्वत्र उच्च मानवीय मूल्यों का संतुलन ही पुष्ट हुआ है। उदाहरण के लिए रामायण में जीवन के प्रति उदासीनता नहीं है, उसमें मानव मूल्यों का सुन्दर समन्वय है, धर्म और भौतिकता का वह सुन्दर संतुलन है जो भारतीय संस्कृति की विशेषता है। इस प्रसंग में एक बड़ी बात उन्होंने यह कही थी कि संतुलन और समन्वय की विशेषता रखनेवाली भारतीय संस्कृति को हिन्दी के द्वारा ही विश्व तक पहुँचाया जा सकता है क्योंकि आज की हिन्दी भारत की सामाजिक संस्कृति के लिए अधिक उपयुक्त है किन्तु भारतीय संस्कृति विश्व में तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकती जब तक हिन्दी अपने देश में प्रतिष्ठित नहीं होती। इसमें बड़ी बाधा भारत के अधिकांश बुद्धिजीवियों और उच्च मध्य वर्ग के लोगों की अंग्रेजीपरस्ती तथा प्रादेशिक बोलियों को अनावश्यक अधिक महत्व देना है।

मैं तो उनके उस दिन के भाषण से अभिभूत हो गया, हालांकि जब मेरा भाषण समाप्त हुआ था, उन्होंने चिकोटी काटते हुए कहा था—"खूब अच्छा कहा", पर सच बात यह थी कि उस दिन सबसे प्रभावकारी भाषण बुल्के का था।

वैसे, वे सर्वाधिक भावविभोर होकर बोले दो रोज बाद यानी 14 जनवरी को उस दिन वर्धा का कार्यक्रम था—राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रांगण में विश्व-हिन्दी विद्यापीठ का शिलान्यास और गोस्वामी तुलसीदास की प्रतिमा का अनावरण तथा इसके बाद पवनार के ब्रह्मविद्या मन्दिर में आचार्य विनोबा भावे के तथा तदनन्तर सेवाग्राम में गांधी जी की कुटी के दर्शन एवं प्रार्थना। तुलसी-प्रतिमा (तिलक राष्ट्रीय विद्यालय के आचार्य कलाकार श्री पद्मे गुरु जी द्वारा निर्मित) का अनावरण करते हुए फादर बुल्के ने एक लिखित भाषण पढ़ा था कि हरि की तरह तुलसी की महिमा भी अनन्त और शब्दातीत हैं—

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूँ, तब गुन लिखा न जाय॥

पूरे कार्यक्रम में वे एक औपनिषदिक ऋषि की तरह लग रहे थे। कितना पवित्र अनुभव था उनके संग में रहना।

एक बार हनुमान जी की बात चली जिन्हें वे पर्वतीय, छोटा नागपुरियों की जाति के आदिवासी मानने के पक्ष में थे। मैंने बात की गम्भीरता को तरह देने की गरज से कहा—फादर—मैं केसरी कुमार हूँ जिसका एक अर्थ होता है हनुमान। फादर कुर्सी छोड़कर खड़े हो गये—अरे हनुमान जी! आप तो मेरे गुरु के राम के भक्त हनुमान, हनुमान के भक्त तुलसीदास और तुलसीदास का भक्त बुल्के।

आज सोचता हूँ तो लगता है कि यह छोटानागपुर भी खूब है जिसे देखकर चैतन्य महाप्रभु को वृन्दावन का भ्रम हो गया था और जिसमें फादर बुल्के को किष्किन्धा दिख गई थी। हम लोगों के बीच विनोद का एक और विषय था—नई कविता। वे मानते ही नहीं थे कि कविता नई या पुरानी होती है। कहते—कविता अच्छी या खराब हो सकती है, नई—पुरानी क्या। एक बार लक्ष्मीकान्त वर्मा की पुस्तक "नई कविता के प्रतिमान" लेकर वे मुझे ढूंढते रहे और इस हिदायत के साथ पुस्तक देकर के ही रहे कि—अगर कुछ समझिए तो बताइयेगा। नई कविता पर होने वाली बहस में पहले तो मैं उनका पक्ष लेता, जैसे, यह कहता कि फादर, आपका कहना भी एक प्रकार से ठीक है। देखिए न, मानव का एक शाब्दिक अर्थ होता है वह जीव जो नया नहीं होता अर्थात् सनातन होता है। पर फादर, कागज नया होता है, रोशनाई नयी होती है, कलम नयी होती है, शब्द नये होते हैं, रोज नये नाम से आदमी पैदा होते हैं, तो कविता नयी क्यों नहीं हो सकती? वे इन्हें अतुलनीय कहते और मैं योजनावश इन्हें परम तुलनीय मानता हुआ फुलझड़ियाँ छोड़ता रहता।

रेवरेण्ड फादर डाक्टर कामिल बुल्के एस० जे०, विशारद, एम० ए०, डी० फिल०. का जन्म 1 सितम्बर 1909 ई० के बेलजियम को वेस्ट-फ्लेण्डर्स नामक प्रान्त में 'कैरेम्स चैपल' नामक स्थान में हुआ। लुवेन विश्वविद्यालय में, जो बेलजियम का

सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय कहा जाता है, इन्जीनियरिंग के स्नातक हुए, 1930 में और 1930 में ही कैथलिकों के जिसिविट संघ में जो विद्याव्यसन और कठोर अनुशासन के लिए विख्यात हैं सम्मिलित हो गये। इसके अन्तर्गत वर्षों तक शिक्षण-प्रशिक्षण चला। जर्मनी में तीन वर्ष रहकर विभिन्न दर्शनों का शास्त्रीय अध्ययन किया और फिर सापेक्षवाद को समझने के लिए उच्चगणित पढ़ा। तदनन्तर संघ के नियमानुसार उन्हें अध्यापन कार्य करना था। इसी नियम के तहत वे अपने मनपसन्द देश भारत भेजे गये। यहाँ आकर सर्वप्रथम दार्जिलिंग और गुमला में अध्यापन किया। मन में हिन्दी और संस्कृत जानने का अनुराग जगा और फिर तो अध्यापन के साथ अध्ययन का वह सिलसिला चला जो जीवनपर्यंत चलता रहा। भारतीय धर्मशास्त्र के अध्ययन हेतु चार साल कुर्सियांग में रहे। धर्म की शिक्षा समाप्त कर लेने पर पुरोहित के रूप में इनका अभिषेक किया गया। 1940 में विशारद हुए: फिर कलकत्ता विश्वविद्यालय से संस्कृत लेकर बी० ए० किया तथा 1945 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए०। 1949 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने आपके रामकथा उत्पत्ति और विकास विषयक शोध प्रवन्ध पर डी० फिल० की उपाधि दी। तदोपरांत संतजेवियर्स कालेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष हुए और स्थायी तौर पर रांची में रह गये।

आपकी लिखी किताबों में प्रमुख हैं—(1) मुक्तिदाता, (2) संतलुकस के अनुसार येसु ख्रीस्त का पवित्र सुसमाचार, (3) रामकथा, (4) नील पंछी (मेटर लिंक के प्रसिद्ध नाटक ब्लू बर्ड का रूपान्तर), (5) अंग्रेजी-हिन्दी कोश, (6) द हिन्दी साल्टर।

इस अन्तिम पुस्तक की बहुत याद आ रही है। फादर बुल्के के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने की रांची के कुछ साहित्यिक मित्रों ने एक योजना बनाई थी। मुझे उक्त ग्रन्थ के लिए एक लेख लिखना था। तब तक यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी। फादर बुल्के ने उसकी एक प्रति मुझे डाक से भेज दी थी। बदस्तूर उस पर उनके बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—प्रो० केसरी कुमार को सप्रेम का० 20-1-82। यह पुस्तक बाइबिल के स्तोत्रों का हिन्दी अनुवाद है और मुख्यत उन पादरियों और धार्मिक व्यक्तियों के लिए तैयार किया गया है जो हिन्दी में प्रार्थना करना चाहते हैं। यह पुस्तक जैसे फादर बुल्के के उस वादे की स्वर्ण-जयन्ती स्मारिका हैं जो उन्होंने रांची के आर्कबिशप पी० करकेटा के साथ जिसस संघ में पचास साल पहले किया था।

इस पुस्तक की शब्दावली में मैं उनका अभिनन्दन करना चाहता था। पर तभी वे बीमार पड़े, गैंग्रीन हुआ और अचानक यह दुखद समाचार मिला कि 17 अगस्त को दिल्ली स्थित भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में उनका देहावसान हो गया। आज उसी की शब्दावली में तर्पण कर रहा हूँ। विधि का विधान।

इधर वे कहने लगे थे कि बाइबिल के अनुसार सत्तर की आयु के बाद आदमी का जीना अनिश्चित है। मैं तो तिहत्तर का हो गया। और, जैसे अन्तिम यात्रा की वे पूरी तैयारी कर चुके थे। उपर्युक्त पुस्तक के अनूदित स्तोत्रों में जैसे उनकी अन्तर्यात्रा की धीरे-धीरे गुम होने वाली पदचाप सुनाई पड़ती है, जैसे कोई संगीत सभा उठ जाय और वातावरण में संगीत की झनकार, आलाप की अनुगूज, मादकता बनी रहे, जैसे अंधेरे में कोई ट्रेन गुजर जाय।

खाते-पीते घर में पैदा हुए। माता-पिता का स्नेह मिला। माता को बड़ी श्रद्धा से याद करते। कहते, वह अब भी हमें सच्चा समझकर सामान और नसीहतें भेजती रहती हैं। उनके मरने पर वे गांव गये थे और लौटने पर बताया था कि भारत की तरह बेलजियम में भी श्राद्ध के अवसर पर दरिद्रनारायण के लिए मोटी-मोटी रोटियां बनती थीं पर इस बार कुछ नहीं बना। पूछने पर मालूम हुआ कि भिखमंगे रोटी लेने नहीं जाते, भिखमंगे है ही नहीं। सर्वश्रेष्ठ विद्यालय में शिक्षा पाई। इन्जीनियर हुए। पर उनका मन तृप्त नहीं हुआ। इससे आगे के जीवन की अन्तर्कथा की कल्पना मैं इस प्रकार करता हूँ—जिन्दगी सन्तप्त भूमि की तरह फैली रही। ऐसे में प्यास जगी उसकी जो मरु को बादल बनाता है। लगा—

मनुष्यों पर भरोसा रखने की अपेक्षा
प्रभु की शरण जाना अच्छा है।

उसी ने अब तक मुझे संवारा है—

कारीगरों ने जिस पत्थर को निकाल दिया था,
वह कोने का पत्थर बन गया है।
यह प्रभु का कार्य है।

इन्जीनियर बुल्के तत्क्षण धर्म-संघ में प्रवेश करते हैं। तनाव विश्राम पाता है—

मैं लेटकर निश्चिन्त सो जाता
और सकुशल जगता हूँ
क्योंकि प्रभु मुझे संभालता है।

यह नवयुवक पादरी रोगी है, पर मरना नहीं चाहता, प्रभु के काम के लिए जिन्दा रहना चाहता है, बल्कि यही मनोबल उसे जिन्दा रखना चाहता है, बल्कि यही मनोबल उसे जिन्दा रखता है—

मैं नहीं मरूंगा, मैं जीवित रहूंगा
और प्रभु के कार्यों का बखान करूंगा
प्रभु ने मुझे दण्ड दिया,
किन्तु उसने मुझे मरने नहीं दिया।

पादरी बुल्के जीवन के हर काम को भगवान की पूजा समझ कर करते रहे। साहित्य की साधना को, प्रभु प्रदत्त साधन और क्षमता के कारण, उसके प्रति अपना

सबसे बड़ा दायित्व मानते है। अपना पूरा जीवन उसे अर्पित करते हैं। बहुत यश और सम्मान पाते हैं। पर, उनकी सहजता में अन्तर नहीं आता।

कालक्रम से शरीर क्षीण हो गया है, बाल पक गये हैं पर साधना अखंड चल रही है। अगर प्रार्थना है तो यही कि—

ईश्वर मुझे युवावस्था में तेरी शिक्षा मिली है,
मैं अब तक तेरे महान कार्य घोषित करता रहा।
प्रभु अब मैं बूढ़ा हो चला, मेरे केश पक गये,
फिर भी मेरा परित्याग न कर,
जिससे मैं इस पीढ़ी के लिए तेरे सामर्थ्य का,
भावी पीढ़ियों के लिए तेरे पराक्रम का बखान करूं।

मनीषी पादरी बाइबिल की औसत आयु से अधिक जी चुका है। कुछ और कृश हो गया है। ऐसे में मृत्यु के संत्रास का प्रकोप होता है। पर ज्यों-ज्यों बीमारी बढ़ती है इस संत को अनुभव होता है कि—

जिस तरह वर मौर बांध कर
और वधू आभूषण पहनकर सुशोभित होते हैं,
उसी तरह प्रभु ने मुझे मुक्ति के वस्त्र पहनाये
और मुझ पर धार्मिकता की चादर डाल दी है।

वह आश्वस्त है कि जब वह प्रभु के पास जायेगा, प्रभु उससे मुंह नहीं मोड़ेंगे—

यदि तुम ईश्वर के पास लौटोगे,
तो वह तुम से अपना मुंह छिपाये नहीं रखेगा।

आखिरी रात की उसकी प्रार्थना है—

यही प्रार्थना हम करते हैं,
पावन स्वामी, आज रात तुम
हम सब की रक्षा करना,
हम तुममें विश्राम करें, तुम
शान्तिमयी घड़ियां दो हम को।

अन्तिम समाधि लग रही है। आँखें बन्द हो रही हैं भीतर प्रार्थना चल रही है, अजपा—

भले हमारे नेत्र बन्द हों,
हृदय हमारा रहे जागता
तेरे लिए, मसीह हमारे।

—प्रो० केसरी कुमार
१, राजेन्द्रनगर, पटना

फादर, इस देश और भाषा की कृतघ्नता को क्या करें

—श्रीमती शैल सक्सेना

भारतीय संस्कृति, दर्शन के अध्येता, रामकथा के मर्मज्ञ विद्वान, बाइबिल के अनुवादक, अंग्रेजी हिन्दी कोश के प्रणेता, हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार फादर डॉ० कामिल बुल्के मेरे लिए गुरु, पिता, मित्र के समान श्रद्धेय तथा स्नेही थे। 12 जून, 1982 को वह जब घर से गए थे तब ध्यान नहीं आया था कि अब वह कभी घर न आएंगे और उनसे होली फैमिली अस्पताल, दिल्ली में भेंट होगी।

8 अगस्त, रविवार फादर पटना के होली फैमिली अस्पताल से दिल्ली होली फैमिली अस्पताल में लाए गए। पटना में वे 16 जुलाई से अस्पताल में दाखिल थे। 31 जुलाई को गैंगरीन के कारण उनके दाहिने पैर की 3 अंगुलियां काट देनी पड़ीं। पटना में उन्होंने बीमारी की सूचना न फैलने देने के लिए विशेष आग्रह किया था। शारीरिक स्थिति बिगड़ने से वे दिल्ली लाए गए। अस्पताल में 3-30 बजे दोपहर को दाखिल हुए, आते ही दूरभाष पर मुझसे संपर्क करवाया। "फादर बुल्के होली फैमिली, 322 नम्बर कमरे में हैं, 1" स्पष्ट था कि कोई विदेशी सप्रयास हिन्दी बोल रहा था।

5 बजे मैं, मेरे पति—श्री कृष्णप्रसाद सक्सेना तथा पुत्री संगीता उनके पास पहुंच जाते हैं। फादर की हालत देखकर हम लोग स्तब्ध रह गए। सहसा आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। फादर कह रहे हैं "मैंने सोचा अपने परिवार को सूचित कर दूं।" फादर परिवार का हाल, मेरी साहित्य साधना उनके आदेश तथा योजनानुसार लिखा 'वैदेही' खण्डकाव्य समाप्ति पर है। दिल्ली की साहित्यिक, तथा राजनीतिक गतिविधियों के बारे में प्रश्न करते हैं, अपना हाल विस्तार से बताते हैं साथ ही पूछते हैं—"सच बताओ क्या मैं बहुत दुबला हो गया ?" फादर की बेबाक दृष्टि का सामना कर सकने में असमर्थ, मैं स्वीकृति में सिर हिला देती हूं। "लेकिन क्यों ?" मुझे उत्तर सूझ जाता है—"फादर, आपने अभी बताया था कि पटना अस्पताल का खाना आपको इतना बुरा लगता था कि आप खा नहीं पाते थे शायद इसी में दुबले हो गए हैं। आप यहाँ ठीक सेखाइए आप जल्दी से स्वस्थ हो जाएंगे।" फादर शिशुवत मान लेते हैं। थोड़ी देर बाद मेरे पति ने उन्हें अपने हाथ से खाना खिलाया, रात

शांत आशीष फादर के मुख और आकृति से झर रहे हैं—"तुम्हारे घर होता तो तुम सबके साथ भोजन करता, यहां तुम खिला रहे हो।" (1978 से दिल्ली में फादर के आतिथ्य का सौभाग्य मेरे परिवार को ही मिलता था।)

बाहर निकलकर डॉक्टर से पूछताछ की। चिकित्साशास्त्र की छात्रा मेरी पुत्री विस्तार से पूछती है और सारी रिपोर्ट देखकर निराशापूर्वक डाक्टर के स्वर में स्वर मिला देती है—"अब कुछ नही है। फादर का हृदय और गुर्दे भी जवाब दे रहे हैं, गैंगरिन का अगला ऑपरेशन वे सह ही नही सकते।" दमा और हाई ब्लड प्रेशर पहले से है ही।

अपने को सुस्थिर कर, कमरे में पहुंचकर फादर को बहलाया कि कोई विशेष समस्या नहीं है। वे उत्सुक हैं—"मेरा पैर कल ही काट दें तो अच्छा है।" फिर लौटने तथा कुछ मित्रों—विजयेन्द्र स्नातक, विष्णु प्रभाकर आदि तथा बेल्जियम के राजदूत महोदय को दूरभाष पर अपने बारे में बताने का आदेश देते है।

9 अगस्त, सुबह मैं अस्पताल में उनके साथ थी। फादर अधूरे कर्मों के प्रति चिन्तित हैं, जल्दी से ठीक होकर कोश के संक्षिप्त संस्करण और ओल्ड टेस्टामेंट का अनुवाद पूरा करना चाहते हैं। फादर तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन मे भाग लेने को अत्यधिक इच्छुक थे। तब तक ठीक होने के प्रति आशान्वित भी थे। सितम्बर तक वे मेरे घर बैसाखी लगाकर लौट आना चाहते थे। मैं बच्चों की तरह उन्हें बहलाती रही। फादर की भयकर बीमारी तथा हिन्दी सेवा के लिए जीने की उत्कट लालसा—मेरे निराश मन को आशा बधती है शायद फादर अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के सहारे ठीक हो जाएं। वे कहते हैं—"तुम बैठी हो मुझे बहुत आराम मिल रहा है। लगता है कोई अपना बैठा है।......मैं अभी हिन्दी की सेवा 10 साल तक और करना चाहता हूं।"

उसी रात जब दुबारा पहुंची तो उन्हें ज्वर चढ़ा हुआ था। बोले "श्रीमती गांधी को सूचित कर दो मैं इलाज के लिए यूरोप मे बेल्जियम जाना चाहता हूं।" मिशनरी तथा राजदूत महोदय से मिल सकने वाले सहयोग तथा आश्वासनों के बारे में भी मुझे बताया।

10 तारीख-फादर की संघर्ष शक्ति क्षीण हो रही है, वे अपने में सिमट रहे हैं। कष्ट बढ़ गया है जो देखा नहीं जाता मग रहा है पर्वत शिखर विस्तार पर पड़ा है। "पैर क्यों नही काटा जा रहा है।" जानने को उत्सुक है। अन्ततः बताना पड़ता है कि—"आपके गुर्दे ठीक कार्य नहीं कर रहे हैं; गुर्दे की बीमारी मुझे कैसे है? सुनकर मुझे धक्का लगा है मैं हर माह रांची में अपना डॉक्टरी परीक्षण करवाता था, किसी ने कुछ नहीं कहा।......मैं तो अपने को हनुमान समझता था।"

आगामी दिनों में कष्ट बढ़ता गया, शक्ति क्षीण होती गई। 12 तारीख को मानो अंतिम विदा ले ली—घर में सबको मेरा प्यार और आशीर्वाद देना।

बहुत कष्ट दिए हैं, माफ कर देना।" फादर ने हाथ जोड़ दिए थे। उमड़ते आंसू रोककर हमने आशा बंधायी थी—आप डायलिसिस से ठीक हो जाएंगे और ऑपरेशन भी हो सकेगा। "तुम कहती हो तो हो जाऊंगा"— मानो उन्हें मुझ पर दया आ गई थी।

14 तारीख सुबह 8-30 बजे उन्हें डायलिसिस के लिए अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान लाया गया। 8-30 बजे से 11-30 बजे तक राजकुमारी अमृतकौर बहिरंग रोगी विभाग के बरामदे में स्ट्रेचर पर पड़े रहे। अस्पताल में दाखिले की खानापूरी की जा रही थी। ग्लूकोस चढ़ रहा था लगातार, नर्स बोतल लटकाए हुए थी, पेशाब की बोतल स्ट्रेचर पर बंधी थी। बेहद गर्मी थी, फादर अत्यधिक थके हुए, निर्बल थे और हम लोग कुतूहल प्रिय जनता को स्ट्रेचर से दूर रखने की असफल कोशिश कर रहे थे। बोले "लगता है यहाँ कोई देखने वाला नहीं है।" हम दोनों ने फिर खोखले आश्वासन दिलाना चाहा। हम लोग लगभग 12 बजे उन्हें 'डायलिसिस जनरल वार्ड' में पहुंचा सके। अस्पताल के अनुशासन के अनुसार केवल एक व्यक्ति रोगी के पास रह सकता है। जेसुईट संघ के फादर और ब्रदर अन्तिम समय में उन्हें पूर्णतया अपने संरक्षण में ले लेना चाहते हैं—निश्चित होता है एक ब्रदर हर समय साथ रहेंगे। उन सबका सेवाभाव अवर्णनीय है।

आशा थी डायलिसिस उसी दिन होगी किन्तु पता चला कि इस अस्पताल के डाक्टरों की राय के अनुसार आवश्यकता ही नहीं है। खेद होता है होली फैमिली से व्यर्थ लाए।

रविवार—सोमवार के मध्य की रात्रि से मंगलवार सुबह तक उन्हें हृदय के तीन दौरे पड़े। उस बीच डॉक्टरों ने प्रत्येक सम्भव उपचार किया—हृदय में इंजेक्शन मालिश, कृत्रिम श्वास। अन्तिम समय निकट देख पादरी महोदय भी बुला दिए गए। तीसरे दौरे के उपरांत भी वे चुप, किन्तु होश में थे। मानेरसा हाउस राँची में कई दशकों से उनके पड़ोसी, फादर CLARYSSE ने डॉक्टरों के आदेश पर श्रवणयंत्र चालू करके पूछा था—"Are you on the air ?" उत्तर मिला "of course" "Are you in pain ?" "No, No", और यही फादर कामिल बुल्के के अंतिम शब्द थे। कुछ क्षण बाद 17 अगस्त सुबह 8-15 बजे बहुत गहरी लम्बी सांस आई, नर्स चीख उठी-डॉक्टर, डॉक्टर, आधे घंटे तक डॉक्टर निरर्थक प्रयास करते रहे। किन्तु सब व्यर्थ। फादर चिरनिद्रा में सो चुके थे।

उनका पार्थिव शरीर 225 जोरबाग नई दिल्ली ले जाया गया। अंतिम दर्शन करने पहुंचती हूं। फादर शांत अनन्त निद्रा में निमग्न हैं, किसी कष्ट की रेखा मुख पर नहीं है, मुखमंडल दिव्य आभा से दीप्त है। मन होता है माथे पर छू लूं तो शायद हमेशा की तरह चौंककर उठ बैठेंगे—"फिर कुछ ले आई हो।"

फादर क्लेरिसि मेरी मनोस्थिति तथा भावना समझते हैं। फादर बुल्के की दाढ़ी से सिर पर बंधी पट्टी खोलकर दाढ़ी लहरा देते हैं—श्रीमती सक्सेना, आप

फादर को वैसा ही देखिए जैसा देखने की आप अभ्यस्त हैं।" वे मुझे धीरज देते-देते स्वयं विचलित हो उठते हैं "आप मुझे देखिए 30 वर्षों से साथ था, सूना पड़ोस देखकर मुझे कैसा लगेगा ! हम प्रभु के प्रति कृतज्ञ हों कि उसने फादर बुल्के को इस धरती पर भेजा और हमें उनका संसर्ग तथा मैत्री प्रदान की।" मैं स्मृति चिह्न स्वरूप स्वर्गीय फादर का कलम लेने का अनुरोध करती हूं।

18 अगस्त 1982 सुबह सेक्रेड हार्ट कैथेड्रल—अशोक प्लेस पर फादर के अंतिम संस्कार पर हुई सभा में एक फादर पूछते हैं—"और लोग नहीं आए ?" मैं चौंकी—"आपका अभिप्राय समझी नहीं" उत्तर मिला "मैं चाहता था हिन्दी के साहित्यकार आते, फादर ने बहुतों को याद किया था।" मैं ग्लानि से सिर झुका लेती हूं, चोर दृष्टि से उपस्थित जनसमुदाय का निरीक्षण करती हूं। संत जेवियर स्कूल के अध्यापक गण, विद्याज्योति के सदस्य तथा मिशनरियों के अतिरिक्त दो—चार चेहरे ही दृष्टिगोचर होते हैं।

10 बजने के कुछ बाद संत जेवियर की एक बस, एक मैटाडोर जिसमें पादरी गण तथा फादर का ताबूत था, दो—तीन निजी कारें तथा दो, तीन स्कूटरों का छोटा सा काफिला निकलसन सिमेट्री, काश्मीरी गेट पहुंच जाता है। वहां हिन्दी के 7-8 साहित्यकार उपस्थित हैं— कुछ दिल्ली, कुछ बाहर के।

वृक्षों के झुरमुट तले खुदी कब्र पर फादर का ताबूत रखा है। अंतिम बार चरण—स्पर्श करती हूं, मन हाहाकार कर उठता है—फादर, वचन तो बैसाखी लगाकर मेरे घर आने का दिया था, बिना बैसाखी के कहां जा रहे हैं आप ! संस्कार, प्रार्थना तथा भाषण आदि के उपरांत ताबूत धरती माता की चिर विश्रामदायी गोद में उतार दिया जाता है। मैं कब्र पर अन्य लोगों के साथ मिट्टी डालकर अंतिम प्रणाम निवेदित करती हूं—पहली बार स्नेहिल हाथों ने चिपटाकर आशीर्वाद नहीं दिया, धवल दाढ़ी के बाल मेरे मस्तक पर नहीं लहराए।

मेरे मुड़ते ही गाजियाबाद से फादर के अंतिम संस्कार में सम्मिलित होने आए मेरी पुत्री तथा बंगाली भावी जामाता लगभग साथ-साथ बोल उठते हैं—"मम्मी, आपके हिन्दी वाले कहां हैं, सब मिशनरी ही दिखाई दे रहे हैं ?" सहसा ध्यान आता है—8 ता० से 11 ता० तक (बीमारी का हाल समाचार पत्रों में छपने तक। मैंने तथा मेरे पति ने बहुत—से साहित्यकारों तथा हिन्दी प्रेमियों से स्पष्ट अनुरोध किया था कि फादर का अंतिम समय है, हम चाहते हैं कि वे जाते समय हिन्दी वालों तथा भारतीयों को कृतघ्न न समझें। किन्तु साहित्यकार के भाग्य की विडम्बना मिटाना हम दोनों के सामर्थ्य के बाहर था ! मैं प्रश्न को टालकर कब्र की दिशा में हाथ जोड़ देती हूं। मेरे जुड़े हाथ इस बार क्षमा मांग रहे हैं—"फादर इस देश और भाषा की कृतघ्नता को क्षमा कर दें।"

एस—402, ग्रेटर कैलाश I
नई दिल्ली-48

एक पुण्य स्मरण

—डा० दिनेश्वर प्रसाद

सोचने पर नहीं लगता कि आज फादर बुल्के नहीं हैं, लेकिन यह भी सच है कि वे पिछले 17 अगस्त को अपने प्रभु ईसा के प्यारे हो गये। 18 अगस्त को 10 बजे दिन में दिल्ली के जोरबाग अवस्थित निकोंलसन कब्रगाह में उनको दफन कर दिया गया। दफन के समय हिन्दी के बहुत से साहित्यकार और प्रशसक उपस्थित थे। यद्यपि गैंगरीन से पीड़ित होने के बाद से लेकर मृत्यु के कुछ घण्टे पूर्व तक उन्हें इस बात का दुःख सता रहा था कि उनका ओल्ड टेस्टामेंट का हिन्दी अनुवाद अधूरा रह गया है, लेकिन जैसे मौत के समय उन्होंने अपने प्रभु की इच्छा के रूप में इसे पूर्ण समर्पण भाव से स्वीकार कर लिया था। मरने के बाद उनके मुख पर अपूर्व शांति और प्रसन्नता विराज रही थी और प्रार्थना की मुद्रा में उनके दोनों हाथ उनकी छाती पर पड़े थे। उनके चेहरे में कहीं कोई विकृति नहीं आयी थी।

लेकिन, फादर बुल्के ने जिस मृत्यु को आदर्श भक्त की तरह ईश्वरेच्छा के रूप में स्वीकार कर लिया, वह भारत-विद्या और हिन्दी की दुनिया की कोई साधारण घटना नहीं है। उनके निधन से एक विश्व प्रसिद्ध भारतविद्, महान् कोशकार, हिन्दी का धर्मयोद्धा, भाषान्तरण को सृजनात्मक चुनौती के रूप में स्वीकार करने वाला अनुवादक और कट्टर राष्ट्रवादी ईसाई हमारे बीच से उठ गया है। बेलजियम से सन्यासी के रूप में आकर 1935 ई० में भारत में बसने वाले फादर बुल्के भारतीयों से भी अधिक भारतीय थे। उन्होंने देश के स्वतन्त्र होने के बाद 1950 ई० में भारतीय नागरिकता स्वीकार कर ली थी और उनकी इच्छा यही थी कि मृत्यु के बाद उनका दफन इसी देश में हो। वे बारम्बार यह कहा करते थे कि मैं एक छोटे देश बेलजियम से एक महान् और विशाल देश भारत आकर बस गया हूं और यहाँ के लोगों ने मुझे जिस स्नेह तथा आत्मीयता से अपनाया है, मैं उसका आभारी हूं। वे अपने को भारतीय से भिन्न और कुछ नहीं मानते थे। उन्हें अपने ईसाई होने का उतना ही गर्व था, जितना भारतीय होने का, क्योंकि वे ईसाइयत और भारतीयता में कहीं कोई विरोध नहीं देखते थे। वे प्रायः यह कहा करते थे कि जैसे पक्के ईसाई और पक्के जर्मन या पक्के ईसाई और पक्के फ्रेंच में कहीं कोई भेद नहीं है, वैसे ही पक्के ईसाई और पक्के भारतीय में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। परम्परागत भारतीय विश्वासों में इतनी उदारता है कि ईसाई धर्म उनमें से एक बन सकता है।

लेकिन, उन्हें इस बात का दुःख था कि हमारे देश के लोग, मुख्यतः ईसाई धर्मावलम्बी इस बात पर बहुत ध्यान नहीं देते और वे पश्चिमी जीवन-पद्धति को ईसाइयत से जोड़ने लगते हैं। उनके अनुसार इसका मुख्य कारण यह है कि ईसाई धर्म भारत में अंग्रेजों के राजत्वकाल में फैला और उस समय के मिशनरी यूरोप के सामाजिक जीवन-मूल्यों के अनुरूप धर्म-प्रचार करने लगे। उन दिनों जो लोग ईसाई बने, उनमें से उच्च वर्ग के लोग "अंग्रेजी सभ्यता अपनाकर अंग्रेज बन गये।" निम्न वर्ग की जो जनता इस धर्म में दीक्षित हुई, वह अंग्रेजी नहीं जानती थी लेकिन मिशनरी उनसे टूटी-फूटी हिन्दी में बात किया करते थे और हिन्दी या लोकभाषा मात्र को बहुत महत्त्व नहीं देते थे। यह बात फादर बुल्के को बहुत आश्चर्यजनक लगती रही और वे अपने भाषणों और निबंधों में यह कहते रहे कि अधिकांश विदेशी धर्म-प्रचारक "निन्यानवे प्रतिशत शिक्षित भारतीयों के साथ बात-चीत करने में असमर्थ हैं।" इसलिए ईसाई धर्म के प्रचारकों और विश्वासियों से यह अपेक्षा करते थे कि वे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को महत्त्व दें—यही नहीं, भारतीय संस्कृति की महान् और उदार परम्पराओं को भी। इलाहाबाद में एम० ए० करते समय वे भारतीय सन्यासियों के अनुरूप कभी कभी गेरुआ वस्त्र भी धारण किया करते थे। उनका विचार था कि जिस देश में हिन्दू, बौद्ध, सूफी आदि विभिन्न मतों के सन्यासी गेरुआ वस्त्र पहनते हैं; उस देश के ईसाई सन्यासियों को भी अपने लिए निर्धारित वेष-भूषा के रूप में गेरुए कपड़े का उपयोग करना चाहिए। यद्यपि वे अभ्यासवश ईसाई सन्यासियों के बीच प्रचलित श्वेत-वस्त्र पहनते थे, लेकिन वे केवल इस रंग के आग्रह को उचित नहीं मानते थे। इसी तरह वे भारतीय ईसाइयों के लिए संस्कृत या भारतीय भाषाओं के नामों का आग्रह रखते थे। लेकिन, ईसाई भारतीयता से पूरी तरह जुड़ सकें इसके लिए वे उनका हिन्दी या भारतीय भाषाओं से जुड़ना अनिवार्य मानते थे। भारत आते ही उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि देश की जनता को जानने और उससे आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का सबसे बड़ा माध्यम आधुनिक भारतीय भाषा, मुख्यत हिन्दी है। इसलिए उन्होंने यहाँ आने के एक वर्ष बाद ही, 1936 ई० में, हिन्दी सीखना आरम्भ किया। वे गुमला के सन्त इग्नाशियुस उच्च विद्यालय में जिन विद्यार्थियों को गणित पढ़ाते उन्हीं की कक्षाओं में सबसे पिछली पंक्ति में बैठकर हिन्दी शिक्षक पी० बाड़ा से हिन्दी पढ़ते। उन्होंने 1938 ई० में पूरे वर्ष भर हजारीबाग के समीप सीतागढ़ में उन्होंने हिन्दी और संस्कृत का अभ्यास किया तथा 1940 ई० में विशारद की परीक्षा पास की। कर्सियांग में धर्म-विज्ञान के अध्ययन के वर्षों में भी वे समय निकालकर प्रतिदिन हिन्दी और संस्कृत पढ़ा करते थे। वे भारत आने से पहले, 1930 ई० में बेलजियम के लुवेन विश्वविद्यालय से बी० एस० सी० (इन्जीनियरिंग) बहुत ऊंचे अंकों से पास कर चुके थे तथा सन्यास-ग्रहण करने के बाद रोम के ग्रिगोरियन विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में

सर्वोच्च अंकों के साथ एम० ए० कर चुके थे। इसलिए उनके लिए यह जरूरी नहीं था कि वे एक लम्बे समय के बाद, छत्तीस की उम्र में, फिर किसी भारतीय विश्वविद्यालय के नियमित छात्र के रूप में नाम लिखाकर पढ़ें, लेकिन उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में 1945 ई० में एम० ए० (हिन्दी) में नामांकन कराया; क्योंकि वे जिस हिन्दी भाषा के माहात्म्य से अभिभूत थे और जिसके माध्यम से काम करने का संकल्प ले चुके थे, उसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए, स्वयं उसके अनुसार, परीक्षार्थी छात्र की तरह हिन्दी पढ़ना आवश्यक था। जब उन्होंने डी० फिल० के लिए रामकथा पर शोध आरम्भ किया, तो उनके सामने हिन्दी की प्रतिष्ठा का प्रश्न अचानक उपस्थित हुआ। उन दिनों अन्य भारतीय विश्वविद्यालयों की तरह इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भी यह नियम लागू था कि भारतीय भाषाओं से सम्बन्धित शोध-प्रबन्ध अंग्रेजी में ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यद्यपि फादर बुल्के फ्लेमिशभाषी थे, लेकिन उनका अंग्रेजी पर भी पूरा अधिकार था। वस्तुतः वे कई यूरोपीय भाषाओं के जानकार थे। उन्होंने बेलजियम की एक अनिवार्य भाषा के रूप में फ्रेंच पढ़ी थी, धर्म भाषाओं के रूप में ग्रीक और लैटिन का अध्ययन किया था, यूरोप में धर्म-शिक्षा ग्रहण करते समय जर्मन सीखी थी तथा भारत आने पर दूसरे यूरोपीय मिशनरियों की तरह अंग्रेजी में विशेषज्ञता हासिल की थी। इसलिए अंग्रेजी भाषा में हिन्दी विषय का शोध-प्रबन्ध लिखना उनके लिए बहुत सरल था; किन्तु उन्हें यह नियम न केवल असंगतिपूर्ण लगा, वरन हिन्दी भाषा के प्रति उपेक्षा और अपमान से पूर्ण भी। उन्होंने विश्वविद्यालय से आग्रह किया कि उन्हें हिन्दी में शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान की जाय। उन दिनों विश्वविद्यालय के कुलपति डा० अमर नाथ झा थे। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् विश्वविद्यालय ने शोध की माध्यम भाषा के सम्बन्ध में प्रचलित नियम का सशोधन कर उन्हें हिन्दी में प्रबन्ध प्रस्तुत करने की अनुमति दे दी। यह बात बहुत कम लोगों को मालूम है कि फादर बुल्के की 'रामकथा' हिन्दी विषय की डाक्टरेट के लिए हिन्दी में लिखित प्रथम शोध प्रबन्ध है और यह भी कि शोधोपाधि की माध्यम भाषा के रूप में हिन्दी को पहली बार प्रतिष्ठित कराने का श्रेय उन्ही को है।

फादर बुल्के तुलसी के दरवाजे से हिन्दी में आये और हिन्दी के दरवाजे से तुलसी के अधिकाधिक समीप पहुंचने के लिए जीवनभर प्रयत्नशील रहे। उन्होंने भारत आने से पहले विश्वसाहित्य सम्बन्धी किसी पुस्तक में तुलसी की इन पंक्तियों का अनुवाद पढ़ा था। "धन्य जनक जगती-तल तासू। पितुहिं प्रमोद चरित सुनि जासू।" उसी समय से उनके मन में इस महाकवि के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया था और उन्होंने इसके साहित्य को पढ़ने के लिए हिन्दी का अध्ययन भारत आते ही आरम्भ कर दिया। तुलसी की भक्ति के मर्म को समझने के लिए उन्होंने रामकथा के रहस्य को जानना चाहा। उनके शोध-विषय का मूल शीर्षक था "तुलसी की

रामभक्ति।" जिसके प्रथम अध्याय के रूप में उन्होंने रामकथा के ऐतिहासिक विक का निरूपण किया था। जब उन्होंने इस अध्याय की सामग्री को पूर्णता पर ले ज के लिए समस्त भारतीय राम-साहित्य के अतिरिक्त फ्रेंच और डच-फ्लेमि में उपलब्ध दक्षिण-पूर्व एशियाई राम-साहित्य का अवलोकन किया, तो वे इस कथ की महिमा से अभिभूत हो उठे। उन्होंने यह निश्चय किया कि वे "तुलसी की राम भक्ति" पर बाद में कार्य करेंगे और सबसे पहले शोध-विषय के रूप में रामकथा वे विश्वव्यापी प्रसार के रहस्य तथा ऐतिहासिक विकास-क्रम का निरूपण करना चाहेंगे अतः उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा से शोध-विषय का शीर्षक बदलकर "रामकथा : उत्पत्ति और विकास" कर देने का अनुरोध किया और उन्हें इसकी अनुमति मिल गई। "रामकथा" जिस पर उन्हें 1949 ई० में डी० फिल् मिली और जिसका प्रकाशन स्वयं इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने 1950 ई० में किया, उनकी विश्वव्यापी कीर्ति का आधार-स्तम्भ है। इसमें संस्कृत, पाली, प्राकृत,अपभ्रंश, हिन्दी, बंगला, तमिल आदि समस्त प्राचीन और आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपलब्ध राम-विषयक विपुल साहित्य का ही नहीं वरन् तिब्बती, बर्मी, सिंहाली, इंडोनेसी, मलय, थाई आदि एशियाई भाषाओं के समस्त राम-साहित्य की सामग्री का, इस कथा के अध्ययन के विकास की दृष्टि से, अत्यन्त वैज्ञानिक रीति से उपयोग हुआ है। इसका महत्त्व केवल हिन्दी या साहित्य तक सीमित नहीं हैं, बल्कि यह भारतविद्या के क्षेत्र में फादर बुल्के की अद्वितीय उपलब्धि है। यह भारत-विद्या और एशियाई साहित्य के अध्ययन की आधारभूत पुस्तकों में है, जिसे पढने और समझने के लिए हिन्दी नहीं जानने वाले विद्वानों को या तो हिन्दी सीखनी पड़ी है या हिन्दी जानने वालो की सहायता लेनी पड़ी है। 1978 ई० में केरल ग्रंथ अकादमी ने इसका मलयालम अनुवाद प्रकाशित किया है और आस्ट्रेलिया केनबरा विश्वविद्यालय के हिन्दी-उर्दू विभागाध्यक्ष डा० रिचर्ड बार्ज इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कर रहे है।

रामकथा के अध्ययन ने उनके मन में रामचरितमानस की रामकथा के मर्यादित स्वरूप के प्रति और भी आकर्षण उत्पन्न किया वे तुलसी-साहित्य का अध्ययन आजीवन करते रहे। तुलसी उनके उतने ही प्रिय थे, जितने अपनी मातृभाषा फ्लेमिश के महाकवि गर्जेले या अंग्रेजी के महाकवि शेक्सपियर। वे फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं की कविता के रसग्राही पाठक थे और हिन्दी भाषा पर अपनी पकड मजबूत करते रहने के लिए हिन्दी में प्रकाशित नये-से-नये उपन्यासो के तत्पर पाठक थे, लेकिन प्रायः पिछले दो दशकों से तुलसी ही उनकी आत्मा के कवि थे। जब वे गैंगरीन के इलाज के लिए अस्पताल में भर्ती हुए तो न केवल मांडर के मिशन अस्पताल में, बल्कि जैसा कि डा० अमर कुमार सिंह ने बाद मे बतलाया, कुर्जी अस्पताल में भी उनके सिरहाने दो ही पुस्तकें थी—बाइबिल और रामचरितमानस। वे जीवन भर रामचरितमानस पर देश भर

की सभाओं और गोष्ठियों में व्याख्यान और प्रवचन देते रहे। उन्होंने तुलसी के संबंध में न केवल हिन्दी में लिखा, वरन् अंग्रेजी, फ्रेंच और फ्लेमिश में भी। 'रामकथा और तुलसीदास' (1978 ई०) तुलसी के विषय में प्रकाशित उनकी एकमात्र पुस्तक है किन्तु इससे वे संतुष्ट नहीं थे। वे तुलसी की भक्ति और उनके कवित्व पर एक विस्तृत पुस्तक लिखना चाहते थे। वे पिछले कुछ वर्षों से यह कहा करते थे "बाइबिल का अनुवाद पूरा होने पर अपने कोश का परिवर्द्धित संस्करण तैयार करूंगा। इसके बाद तुलसी पर एक बड़ी पुस्तक लिखूंगा और स्वर्ग जाऊंगा।" काश, वे यह सब कर पाते।

वे अपने धर्म-संघ को हिन्दीमय देखना चाहते थे। भारत के विभिन्न ईसाई-धर्म-संघों में जो हिन्दी प्रचलित थी, वे उससे बहुत असंतुष्ट थे। बाइबिल के उपलब्ध हिन्दी अनुवाद अपने भद्देपन, कृत्रिमता और अनावश्यक संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कारण उनको बहुत पीड़ित करते थे। उन्हें तब और भी दु:ख होता, जब उन्हें बाइबिल के आधारभूत ग्रीक और लैटिन पाठों की नासमझी से भरे हिन्दी अनुवादों के नमूने, हर उपलब्ध हिन्दी बाइबिल में, सैकड़ों की संख्या में मिल जाया करते। उनकी इच्छा थी कि ईसाई धर्म-संघ परिनिष्ठित किन्तु सरल स्वाभाविक हिन्दी का प्रयोग करें। इसलिए उन्होंने सबसे पहले दर्शन, धर्मशास्त्र आदि विषयों की पारिभाषिक शब्दावलि का एक लघु कोश "ए टेक्नीकल इंगलिश—हिन्दी ग्लौसरी" (1955 ई०) के नाम से प्रकाशित किया। इस लघु कोश का इतना व्यापक स्वागत हुआ कि उन्होंने एक बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश का निर्माण करना चाहा। पाँच वर्षों के कठोर परिश्रम के बाद उन्होंने 1967 ई० में जो "अंग्रेजी-हिन्दी कोश" तैयार किया, उसका प्रकाशन राँची के कैथोलिक प्रेस ने अगले वर्ष 1968 ई० में—गणतन्त्र दिवस के अवसर पर किया। कैथोलिक प्रेस ने इसके तीन संस्करण प्रकाशित किए। गत वर्ष यह कोश नई दिल्ली की एस० चाँद एण्ड कम्पनी से छपा है। अब तक इसकी लगभग डेढ़ लाख प्रतियाँ बिक चुकी है। यह अब तक प्रकाशित अंग्रेजी हिन्दी कोशों में सबसे श्रेष्ठ और उपयोगी है। रामकथा की तरह उनका कोश भी प्रसिद्ध हुआ है और यह अंग्रेजी सीखने वाले लोगों के लिए ही नहीं, अनुवादकों के लिए भी वरदान सिद्ध हुआ है। फादर बुल्के इस कोश का परिवर्द्धन करना चाहते थे। वे अगले वर्ष इसके परिवर्द्धन का कार्य आरम्भ करना चाहते थे और उन्होंने यह हिसाब लगा लिया था कि इसमें उन्हें चार सौ पृष्ठों में मुद्रण-योग्य नई प्रविष्टियों का समावेश करना होगा, किन्तु यह अपने वर्तमान रूप में भी इतना वैज्ञानिक और उपयोगी है कि यह अगले अनेकानेक वर्षों तक महत्त्वपूर्ण बना रहेगा।

कोश पूरा करने के तत्काल बाद उन्होंने मूल ग्रीक से न्यू टेस्टामेंट (नया

विधान) के हिन्दी अनुवाद में हाथ लगाया। नया विधान ईसाइयों का धर्म-ग्रन्थ है और पुराना विधान मूलतः यहूदियों का। इन्हें क्रमशः ईसाई बाइबिल और यहूदी बाइबिल भी कहा जाता है। हर ईसाई "पुराना विधान" को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इसलिए वह इसे अपने धार्मिक साहित्य के अंग के रूप में देखता है। फादर बुल्के सबसे पहले "नया विधान" का अनुवाद करना चाहते थे। अनुवाद उनके लिए कोई नया काम नहीं था। उन्होंने 1942 ई० में ही अपनी "दे सेवियर" नामक पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद किया था तथा 1958 ई० में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के अनुरोध पर मेटरलिंक के विश्व प्रसिद्ध "द ब्लू बर्ड" नामक नाटक का मूल फ्रेंच से "नील पंछी" के नाम से अनुवाद किया। उन्होंने नया विधान के "संत लूकस का सुसमाचार" का अनुवाद 1963 ई० में प्रस्तुत किया था। उन्होंने इसके "पर्वत-प्रवचन" (1959) और प्रेरित-चरित (1973 ई०) नामक अंशों का अनुवाद स्वतंत्र रचनाओं के रूप में प्रकाशित किया था। यह सब उन्होंने सम्पूर्ण ईसाई बाइबिल के अनुवाद की तैयारी के रूप में किया था और यह तैयारी इतनी लंबी थी कि अपने कार्य की सफलता में उन्हें कोई संदेह नहीं रह गया था। उनकी "हिन्दी बाइबिल : न्यू टेस्टामेंट" जो 1977 ई० में प्रकाशित हुई, इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। ग्रीक भाषा की अच्छी जानकारी के बावजूद उन्होंने इस अनुवाद पर जो परिश्रम किया, वह वही व्यक्ति कर सकता है, जो हिन्दी की सम्भावनाओं के प्रति पूर्णतः आश्वस्त हो। वे उन लोगों में थे जो अभिव्यक्ति की दृष्टि से हिन्दी को अंग्रेजी से भी बड़ी मानते थे और अक्सर यह कहा करते थे—"हिन्दी में सब कुछ कहा जा सकता है।" भाषा को समृद्ध करने वाले रचनात्मक कार्य के रूप में अनुवाद को देखने की परंपरा हमारे यहाँ अब तक नहीं बन सकी है। नहीं तो हमारे समीक्षकों ने फादर बुल्के की हिन्दी बाइबिल को हिन्दी भाषा की एक श्रेष्ठ उपलब्धि के रूप में देखा होता। यह हिन्दी की जातीय शैली में प्रस्तुत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। फादर बुल्के पिछले कुछ वर्षों से पुराना विधान या ओल्ड टेस्टामेंट के हिन्दी अनुवाद में संलग्न थे। वे इस वृहत् ग्रन्थ के लगभग नौ सौ पृष्ठों का अनुवाद पूरा कर चुके थे और इसके बाकी डेढ़ सौ पृष्ठों का अनुवाद उन्हें करना था। इसलिए रुग्ण होने पर वे बहुत उद्विग्न थे।

फादर बुल्के का साहित्य बहुत विस्तृत है। हिन्दी और अंग्रेजी में उनकी पुस्तकों की कुल संख्या उनतीस है और उनके शोध निबंधों की संख्या साठ से भी अधिक है। इसके अतिरिक्त उनकी लगभग एक सौ प्रकाशित छोटी-बड़ी टिप्पणियां और लघु निबंध हैं जो मुख्यतः नागरी प्रचारिणी सभा के हिन्दी विश्वकोष के विभिन्न खण्डों में मुद्रित हैं। उन्होंने हिन्दी और भारतविद्या के लिए जो कुछ किया, वह उनकी कीर्ति को अक्षुण बनाये रखने के लिए पर्याप्त है। लेकिन, अपनी जिस

विशेषता के कारण वे पूरे देश में इतने सम्मानित और पूज्य हुए, वह थी उदार और सेवाप्रवण मानवता, जो जाति, भाषा, धर्म और सम्प्रदाय से बहुत ऊपर उठ चुकी थी और उनके सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति को निश्छल स्नेह और प्रसन्न उजली हँसी से नहला देती थी।

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
रांची विश्वविद्यालय, रांची

□ □ □

बाबा के दो पत्र

—श्री रघुनाथ प्रसाद विकल

फादर कामिल बुल्के अब नही रहे—यह कहने की इच्छा नही होती। और अगर कह भी दूं तो उससे कोई फर्क नही पड़ेगा। आज हिन्दी-संसार में "रामकथा" और "कामिल-बुल्के"-आपस मे एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं। फादर कामिल बुल्के को इधर लोग प्यार से बाबा कामिल बुल्के कहने लगे थे।

कलकत्ता और प्रयाग की अपनी हिन्दी-संस्कृत की पढाई समाप्त कर, अपनी शोध पुस्तक "रामकथा" पर "डाक्टरेट" ले वे बिहार में आ बसे थे। और यहां वे ऐसा रम गये थे कि बेलजियम-वासी होते हुये भी अपने को "बिहारी" कहने लगे थे।

1950 ई० की बात है। वे पटना आये हुए थे। पटना में उनके ठहरने का स्थान "संत जेवियर्स" स्कूल होता था। दैनिक "प्रदीप" के सहायक सम्पादक श्री रामचन्द्र वर्मा जो "परिमल-पाटलिपुत्र" के सयोजक भी थे बाबा को "परिमल-गोष्ठी" में आने का निमंत्रण दे आये। वे नियत समय पर गोष्ठी मे पधारे भी। महाकवि "प्रभात" उस गोष्ठी मे पधारे थे। उन्होंने अपने महाकाव्य "कैकेयी के कुछ अश वहाँ सुनाये थे। उसे सुनकर बाबा बुल्के ने कहा था—"रामकथा" के अगले सस्करण मे मैं "कैकेयी" की भी चर्चा करूँगा।"

गोष्ठी के दूसरे दिन मैंने उन्हें "सेंट जेवियर्स" के पते पर पत्र लिखा था। "परिमल" का हवाला देकर उनसे मिलने के लिए समय मांगा था। करीब पन्द्रह दिनों तक पत्र का कोई उत्तर नही मिला। मैं निराश हो चला था कि उनका एक कार्ड आ गया। पत्र कलकत्ते से भेजा गया था। पत्र पढकर मैं गद-गद हो गया। पत्र मे भी वे "राम" को नही भूले थे। पत्र यों है—

कलकत्ता
14-10-50

प्रियवर,

नमस्ते।

रामवाण की तरह मेरा पीछा करता हुआ आपका स्नेहपूर्ण पत्र पटना और राँची होकर कलकत्ता पहुंच गया है। आशा है आपको पत्रोत्तर के विलम्ब के कारण अधिक निराशा नही हुई होगी।

हां, आप ठीक लिखते हैं—भवितव्यता को कोई नहीं जानता। अस्तु दुनिया छोटी और गोल है। अर्थात् हम फिर मिल सकेंगे। हम दोनों तो विहारी हैं। और "परिमल की गोष्ठी में आने का सौभाग्य मुझे फिर प्राप्त होगा। ऐसी आशा है। अत: अगली वार आप मुझसे मिल लीजिए। दर्शन के अतिरिक्त वातचीत में—साहित्यिक वातचीत में मिठास है न।

विकल जी "शिवास्ते सन्तु पन्थान:"

आपका—
का० बुल्के

उसके वाद जब मैं राँची गया तो वहीं सेंट जेवियर्स कालेज में उनसे मुलाकात हुई। उन दिनों वे 'अंग्रेजी-हिन्दी कोष' के निर्माण में लगे थे।

इधर जनवरी 82 में मैंने अपना कविता संग्रह "स्वप्न और सत्य" भेंट स्वरूप उन्हें भेजा था। उसके उत्तर में उन्होंने मुझे निम्नांकित स्नेहपूर्ण पत्र भेजा था—

राँची
16-2-82

प्रिय विकल जी,

चार-पाँच दिन पहले मुझे आपका कविता संग्रह मिला। शीर्षक देखकर सोचा—

कितने दुर्भाग्यशाली हैं
वे लोग, जो स्वप्न नहीं देखते।
और कितने सौभाग्यशाली हैं
वे, जिनके स्वप्न सत्य बन जाते हैं।

आपका
का० बुल्के

इधर वरावर सोचता था कि राँची जा उनसे फिर मिल आऊं, पर मिलना संभव नहीं हुआ और अब तो वह असम्भव ही हो गया है। राष्ट्रकवि "दिनकर" की बापू विषयक कविता के निम्नांकित पंक्तियों में "बापू" की जगह पर "बाबा" करके अब तो इसे ही दुहराते रहना है :—

अब नहीं मिलेंगे कहीं नयन
दर्शन की व्यर्थ न आस करो।
"बाबा" सचमुच ही चले गये
भोली श्रुतियों विश्वास करो।

९, किदवईपुरी
पटना

नहीं रहा वह हिन्दी का दधीचि

—प्रो० कृपाल सिंह

डॉ० कामिल बुल्के का पार्थिव शरीर 17 अगस्त 1982 को हिन्दी संसार से उठ गया। अब 'मनरेसा हाउस' में उन ऋषि कल्प चरणों की धमक नहीं सुनाई पड़ेगी, जिस धमक ने कई दशकों से यहां की हरीतिमा को आन्दोलित कर रखा था। एकदम उजाड़ पड़ गया है 'मनरेसा हाउस' का वह कोना जहां डॉ० कामिल बुल्के रहते थे। सारे शहर के हिन्दी प्रेमियों के सामने यह समस्या गहराती जा रही है कि कल से वे अपनी शोध-जिज्ञासा के समाधान के लिए किस वट वृक्ष के नीचे जाकर निश्चित होंगे। कल तक जो भव्य व्यक्तित्व हिन्दी सभाओं में अध्यक्ष का आसन सुशोभित करता था, आज उसकी तस्वीर शेष रह गयी है। कल तक जिस हिन्दी-प्रेमी का जीवन हिन्दीवालों की अन्यतम सम्पदा था, अब उसी की स्मृतियां धरोहर रह गयी हैं। उस दधीचि का अब केवल स्मरण हम कर सकते हैं, जिसने अपना सारा जीवन हिन्दी के लिए होम कर दिया। लेकिन उनका काम अभी पूरा ही कहा हुआ अंतिम क्षणों तक उन्हें अपने अधूरे कार्यों की चिन्ता थी। न तो वे बाइबिल के अनुवाद को ही अंतिम रूप दे सके और न तुलसी-कथा को पूर्ण कर सके। 1 सितम्बर 1909 ई० से आरम्भ हुई रचानात्मक संघर्ष और आध्यात्मिक उदात्तता की यात्रा जिस दिन समाप्त हुई, उस दिन हिन्दी में अध्ययन और शोध के एक भास्वर इतिहास का समापन हुआ।

आज कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि बेल्जियम के वेस्टफ्लैंडर्स प्रान्त में जन्मे डॉ० कामिल बुल्के ने लुवेन विश्वविद्यालय से 1930 में अभियांत्रिकी स्नातक विज्ञान की उपाधि प्राप्त करने के वर्षों बाद 1945 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से संस्कृत में स्नातक की उपाधी ली। फिर वे 1947 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० हुए और 1949 में वहीं से डी० फिल०। अभियांत्रिकी से हिन्दी के बीच की यात्रा उन्होंने दर्शन और धर्मशास्त्र के विभिन्न क्षेत्रों में की। 1932 में जर्मनी के येसुइट कॉलिज में दर्शनशास्त्र में एम० ए० और कर्सियांग कॉलेज द्वारा 1939-42 में धर्मशास्त्र की प्रवीणता प्राप्त करने के बाद डॉ० बुल्के का पदार्पण भारतीय भाषा-साहित्य के क्षेत्र में हुआ।

उन्होंने 1930 में ही सन्यास ग्रहण कर लिया था और 1935 में वे पहली बार भारत आए। बार-बार वे स्वीकारते रहे हैं कि उन्हें गंगा और यमुना के इस मैदान में खींच लाने का सारा श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को है। रामचरितमानस की जिन चौपाइयों ने डॉ० बुल्के को हिन्दी पढने को प्रेरणा दी। उन्हीं चौपाइयों के रचयिता तुलसीदास का गुणगान वे आजीवन करते रहे। उनका शोध-प्रबन्ध 'राम कथा: उत्पत्ति और विकास' ने सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में रामकथा के उद्‌भव और प्रसार के विश्व-कोश का रूप धारण कर लिया था।

रचनाकार, अनुवादक, कोशकार और सम्पादक के रूप में डॉ. बुल्के का जीवन मील का पत्थर बन चुका है। दि सेविअर के हिन्दी अनुवाद मुक्तिदाता (1942), दि थिम्स ऑफ न्याय वैशेषिक (1947), रामकथा (1950), टेक्नीकल इंगलिश हिन्दी ग्लॉसरी (1955), नील पंछी (1958), अंग्रेजी हिन्दी कोश (1968), सुसमाचार (1970), पाठ सग्रह (प्र० भा० 1972, द्वि० भा० 1973, तृ० भा० 1974), प्रेरित चरित्र (1973) एव मानस कौमुदी (1979) में ही डॉ० बुल्के की प्रतिभा सिमटी हुई नहीं रही। उनके अनेकानेक शोधात्मक एवं हिन्दी-प्रेम से सराबोर निबन्ध हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच और फ्लेमिश भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं। उनके सामने अनेक योजनाएं थीं। सम्पूर्ण बाइबिल के अनुवाद में संलग्न डॉ० बुल्के को मरण शय्या तक यह चिन्ता सालती रही कि उन्होंने 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' के 930 पृष्ठों का अनुवाद तो कर दिया है, शेष 150 पृष्ठ अनूदित नही हो सके। वे रामकथा शीर्षक अपने प्रख्यात शोध प्रबन्ध के तीसरे सस्करण की तैयारी में भी लगे थे। अंग्रेजी हिन्दी कोश का नया संशोधित परिवर्तित रूप प्रस्तुत करने की योजना भी उनके सामने थी। उनके देहावसान ने इन सारी योजनाओं को अधूरा छोड़ दिया है, हमारे सामने हिन्दी के एक स्वयंभू मनीषी का आसन रिक्त कर दिया है।

अपने हिन्दी विद्‌ होने के कारण डॉ० बुल्के को देश-विदेश मे समान आदर और सम्मान प्राप्त था। वे 1950 से ही बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्‌ की कार्यकारिणी के सदस्य थे। वे 1972 से ही भारत सरकार की केन्द्रीय हिन्दी समिति के सदस्य थे। उन्हे 1973 मे बेल्जियम की रॉयल अकादमी का सदस्य बनाया गया था। उनकी हिन्दी-सेवाओं के लिए 1974 में उन्हें पद्‌म भूषण की उपाधि दी गयी थी। नागपुर और मारिशस में आयोजित विश्व हिन्दी सम्मेलनों में उन्हे लगातार ऊंची जगह दी गयी और दिल्ली में इस वर्ष आयोजित होने वाले तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन की संचालन समिति के वे वरिष्ठ सदस्य मनोनीत हुए थे। दिसम्बर में यह सम्मेलन तो आयोजित होगा, लेकिन हिन्दी का ऋषिकल्प व्यक्तित्व वहां उपस्थित न होगा।

काल के क्रूर हाथों ने हमारे बीच से हिन्दी के एक ऐसे पक्षधर को छीन लिया है, जिसकी समता शायद किसी से नही की जा सकती। उनकी स्मृतियां

इसलिए भी तीव्रतर होती जा रही है कि अपने विशाल मानववादी हृदय द्वारा उन्होंने छात्रों और शोधार्थियों की एक लम्बी कतार को उपकृत किया था। पीढ़ियों से लोग उनके निजी पुस्तकालय का उपयोग मदाशयता पूर्वक करते आ रहे थे। अब 'मनरेसा हाउस' का वह पुस्तकालय अपने अधिपति के बिना वीरान हो गया है। वह सुगन्ध उड़ गयी है जिससे यह गिरिवन प्रान्तर सुवासित होता था।

—हिन्दी विभाग,
संत जेवियर कालेज
बाक्स—9
रांची—834001

□ □ □

फादर कामिल बुल्के : मेरे मानस पिता

—श्रीमती नीलम पाण्डेय

17 अगस्त 1982। प्रातः का सूर्य जाने क्यों आज निस्तेज था। किरणों में अवगुंठित शाश्वत उज्जवलता आज कुछ धूमिल लग रही थी। कहते हैं प्रकृति अपने विविध आयामों में शकुन अपशकुन की सूचना दर्शाती है, शायद तभी तो नित्य ही काफी दिन बढ़े खुलने वाली मेरी नींद अजीब बेचैनी से सुबह साढ़े तीन बजे ही खुल गयी थी। पूरा वातावरण सामान्य होने के बावजूद जाने वह कैसी बेकली थी, जो मन-प्राण को मथे दे रही थी। इतनी सुबह उठ कर क्या करूं, यह तय नहीं कर पा रही थी, न पुस्तकों में मन लग रहा था, न देव अर्चना में। बार बार मन में एक अज्ञात आशंका जन्म ले रही थी—जरूर आज कुछ ऐसा होने वाला है, जो नहीं होना चाहिए।

बुझे मन से ही उस दिन आफिस गयी थी, नित्य की दिनचर्या थी। अकारण व्यवधान आता भी कैसे। मन चूंकि काफी बेचैन था···अतः तुलसी की यह पक्तियां मन ही मन कई बार दुहरा चुकी थी—"जीवन न लह सुख, हरि प्रतिकूला"···कभी यही पक्तियां फादर ने अमृत वाक्य के रूप, घोर निराशा के क्षणों में सबल प्रदान करने के लिये मुझे सिखाई थी। उफ! इन पक्तियों को दुहराते समय मन में कभी वह ख्याल तक नहीं आया कि प्रकृति के ये दर्शायें अपशकुन उस महामानव की विदाई बेला के हैं। कौन जानता था, जिन पक्तियों के सहारे मैं अपने को सामान्य रखने की कोशिश कर रही थी, उसी को सिखाने वाला आज जा रहा है हमेशा-हमेशा के लिये।

शाम झुक आयी थी, और अपने को व्यस्त रखने के लिये मैं चाय के प्याले के साथ कार्यालय के दूरमुद्रक कक्ष तक गयी थी और दूरमुद्रक से छपकर निकलते समाचारों पर नजर पड़ते ही चाय छलक गयी—फादर बुल्के नहीं रहे।

फादर बुल्के अस्वस्थ हैं, उनके गैंगरीन के कारण उनके हित में उनके दाये पैर की तीन उगलियां काट दी गयी है। यह सब कई दिनों से समाचार-पत्रों में पढ रही थी और पढ कर मन ही मन बेचैन हो रही थी, कैसी अभागी थी मैं, फादर इसी पटना में कुर्जी मिशन अस्पताल में थे, और मैं उनकी दुलारी बिटिया—जिसे वे हमेशा तीन वर्ष की नन्ही मुनिया की तरह देखा करते थे, उन्हे देखने तक के सुख से मुझे ईश्वर ने वंचित कर रखा था—मैं स्वयं राजेन्द्रनगर अस्पताल मे एक दुर्घटना के कारण जीवन-मृत्यु के झूले मे झूल रही थी, और जैसे ही इस लायक हुई कि कुर्जी अस्पताल तक जा सकूं, फादर दिल्ली जा चुके थे।

फादर दिल्ली चले गये, उन्हें बेहतर स्वास्थ्य लाभ होगा, यह सोचकर मन को सांत्वना दी थी मैंने। पर यह कहां सोचा था कि वे दिल्ली जा कर हमेशा हमेशा के लिये हमें छोड़ जायेंगे। ईश्वर इतना क्रूर होगा कि उन्हें हम सब से छीन लेगा, इसकी कल्पना तो मैंने नहीं की थी। यह भी भान हुआ कि अभी जो स्थिति मेरी है, वह मुझ जैसे उनके करीब रहने वाले हजारों हजार रांची के अनाम छात्र-छात्राओं की हो रही होगी।

मानसिक दृष्टि से मैं फादर बुल्के के कितने करीब रही हूं, यह मैं नही जानती किन्तु फादर हमेशा करीब रहे हैं, इतने करीब कि हर क्षण माथे पर मैंने उनका वरदहस्त पाया है। इन्टरमीडियेट के अबोध अल्हड़ दिनों से लेकर एम० ए० की परिपक्वता तक हर क्षण मैंने अपने माथे पर उनकी वात्सल्य रस में भीगी उंगलियां महसूस की है।

आज जब फादर नही रहे, उनकी वही स्मृतियां तो भाव विह्वल किए दे रही हैं। उनका घर, उनकी लाइब्रेरी, मात्र घर और लाइब्रेरी ही नही, रांची के युवाओं के लिए एक मन्दिर था जहां हम घन्टों बैठकर मां सरस्वती की आराधना किया करते थे, उनके निर्देशन में।

उनका व्यक्तित्व एक विद्वान का नही, एक संत का था। छः-साढ़े छ: फुट की लम्बी काया। सफेद लम्बी दाढ़ी और दुग्ध धवल गाउन उन्हें देवदूत की सी भव्यता प्रदान करते थे। एक ऐसा व्यक्तित्व जिसे देखते ही उसके चरणों की धूल माथे पर लगाने की अदम्य इच्छा स्वतः उत्पन्न हो। मुझे याद है, जब मैंने उनका चरणस्पर्श किया था, हर बार उन्होंने स्नेह विगलित स्वर में "मेरी बेटी आ गई" कह कर मेरे माथे पर अपनी परम्परानुसार स्नेह चुम्बन अंकित किया था और मैं बेटी के अधिकार से ही उनसे झगड़ती रहती थी—फादर आप इतना काम मत किया कीजिए आप बोलिये··· मैं लिखूंगी······फादर आपने दवा अब तक नहीं खाई···। फादर पहले दमा से आक्रान्त रहा करते थे और स्वास्थ्य के विषय में इतने लापरवाह कि उन्हें दवाइयां खाने तक की याद नही रहती थी। काम, काम और केवल काम, यह उनके जीवन का लक्ष्य था। मैंने उस वृद्धावस्था और रुग्णावस्था में भी अहर्निशी कर्म की उपासना करते उन्हें देखा है।

हिन्दी के इतने सबल पक्षधर थे कि सामान्य बातचीत में भी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करना उन्हें जरा भी पसन्द नहीं था। इसी से संबंधित एक घटना याद आ रही है मुझे। उन दिनों एम० ए० प्रीवियस में मैं थी। रांची विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की कक्षाएं ११ बजे से होती थी उन दिनों। फादर बाइबिल का नये ढंग में हिन्दी अनुवाद करने में मग्न थे। सुबह ८ बजे मैं उनकी लाइब्रेरी पहुंचती थी। फादर से संबंधित कोई काम करके मुझे असीम सुख मिलता था। फादर बोल रहे थे और मैं लिख रही थी। तभी मेरे मामा जी किसी आवश्यक घरेलू काम से मुझे लेने लाइब्रेरी पहुंचे और घर चलने को कहा। फादर ने उनका परिचय पूछा और

सामान्य स्वर मे ही उन्होंने कहा—"मैं नीलम का अंकल हूँ" अंकल शब्द सुनते ही फादर क्रुद्ध हो गये। यों फादर को गुस्से मे आते मैंने कम ही देखा था। फादर गुस्से मे बोल रहे थे—अंकल। अंकल का अर्थ क्या होता हैं, आप यह बताइये। आप उसके चाचा हैं, मामा है, मौसा है, फूफा हैं और मेरे मामा का मर शर्म के मारे झुक गया था। मुझे भी शर्म आ रही थी, अपने मामा जैसे हिन्दी भाषियों के खोखलेपन पर जो हर चार शब्दों के बाद अंग्रेजी शब्दों को जोड़ना आवश्यक समझते है।

जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण कितना आशावादी रहता था, उससे संबंधित भी एक घटना याद आ रही है मुझे। मेरी एम० ए० की परीक्षा समाप्त हो चुकी थी और मैं पटना आने वाली थी। जल्द ही विवाह भी होने वाला था और इसी संभवना से कि पता नही फादर से फिर कब मिलना संभव हो, मैं उनका आटोग्राफ लेने गई थी। उन्होंने मेरी आटोग्राफ बुक मे रामायण की यह पंक्ति लिखी थी—"जीवन न लह सुख, हरि प्रतिकूला।" लिखकर उन्होंने उनका विश्वलेपण यह किया था—"बेटा जीवन में कितनी भी प्रतिकूलतायें, आयें उनसे कभी घबराना नहीं चाहिए। यह इसलिए कि ईश्वर जो करता है, बढ़िया करता है। जीवन में इस सिद्धांत को लेकर चलो तो तुम्हें कोई दुख नही होगा।"

इन पंक्तियों को मैंने अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न किया है। सचमुच उनकी इन पंक्तियों ने मुझे हर डूबती निराशा की घड़ियों मे अदभुत बल प्रदान किया है। पर आज जब फादर नही रहे तो इच्छा नही होती कि यह मान "ईश्वर जो करता है अच्छा करता है" फादर को हम सबसे छीन कर ईश्वर ने क्या अच्छा किया है।

फादर जब भावुकता में आते थे तो अक्सर अपने बचपन की बात बताने लगते थे। तात्विक परिवार में। सितम्बर, 1909 को अपने जन्म से लेकर अपने तेरह भाई-बहनों की कहानी—जिसमें सिर्फ एक बहन ही बच गई थी जो उन दिनों बेल्जियम में थी। हिन्दी के लिए इतना करने के बावजूद फादर हिन्दी भाषियों को हिन्दी की उपेक्षा करते देखते थे तो उन्हें आन्तरिक दुख होता था।

धैर्य को फादर जिन्दगी का एक महत्त्वपूर्ण संबल मानते थे। इन्टरमिडियट के दिनों मे उपन्यास पढ़ने का मुझे नया-नया चस्का लगा था। मैं उनकी लाइब्रेरी से एक दिन चार किताबें पढ कर दूसरे दिन लौटने पहुंची थी। उनके यह पूछने पर कि क्या पढा, मेरे उत्तर मे चारों पुस्तकों के विषय गड़बड़ हो गये। वे अक्सर मुझे कहा करते थे—बेटे तितली नही मधुमक्खी बनो, हर पुस्तक को तितली की तरह छूकर छोड़ देना अच्छा नही, मधुमक्खी की तरह उनसे सार ग्रहण करना चाहिये।

ऐसे क्षणों मे फादर के मुह से रजनीगंधा के फूलों की तरह जीवन से सफल होने के लिए पवित्रता से आतलावित शब्द टपकते थे और मेरा रोम-रोम कान बनकर उन अमृत वाक्यों को सुनता रहता था।

इतना कुछ सिखाया है उन्होंने मुझे— मेरे जैसे रांची के उन हजारों-हजार अनजान छात्र-छात्राओं को, कि उनकी स्मृतियों से कभी चाहकर भी हम कभी दूर नहीं हो सकते। फादर विद्वान, रामकथा के मर्मज्ञ ज्ञाता और तपस्वी ही नहीं वात्सल्य से परिपूर्ण मुझ जैसे असंख्य हिन्दी के छात्र-छात्राओं के पिता भी थे, एक ऐसे स्नेही पिता जो बच्चों को डांटता भी है, ताडना भी देता है पर इतने मीठे शब्दों में कि कभी रोष उत्पन्न नहीं होता।

फादर जब नहीं रहे और मेरा उतरा चेहरा देखकर लोगों ने कारण पूछा तो एक ही शब्द निकला मेरे मुंह से—"अपने परिवार के सगे नाना-दादा को भी कुछ हो जाता तो इतनी तकलीफ मुझे नहीं होती।" जानती हूं मेरे इन शब्दों से, मेरी इस भावना से मेरे स्वजनों को दुख होगा, पर ये शब्द मेरे मुंह से ही नहीं मन से निकले थे।

दुख इस बात का नहीं कि फादर नहीं रहे। उनकी उम्र हो आई थी। दुनिया में अमर होकर कोई नहीं आया। लोग-बाग कहते हैं कि रुग्णावस्था की यंत्रणादायी पीडा से उनकी मुक्ति हुई है। इस सच को मैं भी अस्वीकार नहीं करती पर दुख तो इस बात का है, फादर से अब कभी नहीं मिल पाऊंगी। जीवन में जब जब हारती थी उनके पास दौड़ती थी। उनके आशावादी अमृत वाणी से मुझे ताकत मिलती थी। जब जीवन में हारूंगी, कहां कौन साहस बंधायेगा इस बेटी को। कहां पाऊंगी अब उनका स्नेह सिक्त वात्सलय। मुझ में तो इतना साहस भी नहीं रहा कि ईश्वर से यह भी प्रार्थना कर सकूं कि ईश्वर उनकी आत्मा को चिरशान्ति प्रदान करें। क्योंकि मेरा विश्वास है कि जैसे तपस्वी वे थे, कर्म की अहर्निश उपासना जैसी उन्होंने की थी, जाने-अनजाने व्यक्तियों के बीच स्नेह उन्होंने बांटा था, उनकी सारी जिन्दगी, उनके कर्म इस बात के साक्षी हैं कि उनकी आत्मा की शांति के लिये ईश्वर को किसी व्यक्ति की पैरवी या प्रार्थना की आवश्यकता नहीं। निश्चय ही उन्हें ईश्वरत्व मिलेगा।

बिहार
जनसत्ता

बाबा बुल्के—एक स्मरणांजलि

—सुधी नीलम

पहले रेडियो से सुनी, फिर समाचार पत्र में पढ़ा और आँखें भर आईं। बाबा बुल्के का देहान्त मेरे लिए अविश्वसनीय परन्तु कठोर सत्य था। ज्यादा दिन तो नही हुए थे उनसे मिले, जैसे कल ही की तो बात थी। उन्हें बहुत पहले से ही देखा जाना है जब कॉन्वेंट में पढ़ती थी पर जिसे प्रौढ़ मुलाकात कहते है वह आठ वर्ष पूर्व की कही जा सकती है।

उस दिन सुबह के आठ बज रहे थे। हवा बादलो की बोझ से घुट-घुट कर बह रही थी। वातावरण कुछ ठंडक लिए थी। मैं पुस्तको की सूची लिए उनके 'मानरेसा आवास' में पहुँची थी। मैं झिझक रही थी, थोड़ी झेंप थी। अपनी उस किशोरी प्रेम यात्रा को अचानक इतनी बडी-सी देखकर क्या कहेंगे। पर जब वे सामने आए तो दोनों हाथों से मेरे कंधे पकड़ ले जाकर पुस्तको भरी लोहे की आलमारी के पास खड़ा कर दिया और मधु जैसे स्वर मे बोले "कितनी पुस्तकें लेनी है, ले लो।"

मैं उनकी ओर देखती हुई जब आलमारी के लोहे के कपाट खोलने में असफल रही तो हँसकर स्नेह से एक चपत मारकर बोले—"तुम कभी एक अच्छी शातिर चोर नही बन सकती हो।" और उन्होंने खीचकर कपाट खोल दिया।

मैं पुस्तकें लेकर चलने लगी थी तो उन्हें बहुत ध्यान से देखा था। जब छोटी थी तो उनकी काया मे सिवाय स्नेह के कुछ न नजर आता था। पर आज उन्हे देखा तो उनके सुदर्शन छवि को देख चकित रह गई थी। वे मेरी टकटकी से थोड़ा परेशान होकर बोले—"क्या देख रही हो?". मैंने हँसकर कहा, आपको और सोच रही हूँ आपका व्यक्तित्व आज किसी को मिले तो वह हीरो बनने फिल्मों मे भाग जाये पर आप तो सब कुछ होते भगवान की शरण मे भाग गये।

फिर दूसरी बार मिली। उनसे मिलने के निश्चित समय से मैं कुछ देर करके पहुँची थी और सोचा था शायद वे नहीं मिलेंगे। मैं लौटने लगी थी कि वे अन्दर कमरे से झट बाहर आए और मेरा लौटने का कारण सुनकर एक चपत लगा कर कहा—मूर्ख कही की, पढा लिखा खाक है क्या, यह प्रतिबन्ध लड़कियों पर नही लड़कों के लिए है।" मेरी आँखें स्नेह में डूब गई थी।

उसी समय पुस्तकें खोजते हुए मैं उनसे बातें कर रही थी तभी एक महिला भी आ पहुँची। जो बातों ही बातों में बाबा को अपनी नौकरी की

इतना कुछ सिखाया है उन्होने मुझे— मेरे जैसे रांची के इन हजारो-हजार अनजान छात्र-छात्राओ को, कि उनकी स्मृतियाँ मे कभी चाहकर भी हम कभी दूर नही हो सकते। फादर विद्वान, रामकथा के मर्मज्ञ ज्ञाता और तपस्वी ही नहीं वात्सल्य से परिपूर्ण मुझ जैसे असख्य हिन्दी के छात्र-छात्राओं के पिता भी थे, एक ऐसे स्नेही पिता जो बच्चो को डाँटता भी है, ताड़ना भी देता है पर इतने मीठे शब्दो मे कि कभी रोष उत्पन्न नही होता।

फादर जब नही रहे और मेरा उतरा चेहरा देखकर लोगों ने कारण पूछा तो एक ही शब्द निकला मेरे मुंह से—"अपने परिवार के सगे नाना-दादा की भी कुछ हो जाता तो इतनी तकलीफ मुझे नही होती।" जानती हूं मेरे इन शब्दो से, मेरी इस भावना से मेरे स्वजनो को दुख होगा, पर ये शब्द मेरे मुह से ही नही मन से निकले थे।

दुख इस बात का नही कि फादर नही रहे। उनकी उम्र हो आई थी। दुनियां मे अमर होकर कोई नही आया। लोग-बाग कहते है कि रुग्णावस्था की यत्रणादायी पीड़ा से उनकी मुक्ति हुई है। इस सच को मैं भी अस्वीकार नही करती पर दुख तो इस बात का हैं, फादर से अब कभी नही मिल पाऊंगी। जीवन में जब जब हार थी उनके पास दौड़ती थी। उनके आशावादी अमृत वाणी से मुझे ताकत मि थी। जब जीवन मे हारूंगी, कहां कौन साहस बंधायेगा इस बेटी को। कहाँ अब उनका स्नेह सिक्त वात्सलय। मुझ मे तो इतना साहस भी नही रहा कि से यह भी प्रार्थना कर सकूं कि ईश्वर उनकी आत्मा को चिरशान्ति प्रदान क कि मेरा विश्वास है कि जैसे तपस्वी वे थे, कर्म की अहर्निश उपासना जो की थी, जाने-अनजाने व्यक्तियों के बीच स्नेह उन्होंने बाँटा था, उनकी मा उनके कर्म इस बात के साक्षी है कि उनकी आत्मा की शांति के लिए किसी व्यक्ति की पैरवी या प्रार्थना की आवश्यकता नही। नि ईश्वरत्व मिलेगा।

सम्पादक
सूचना एवं

फादर कामिल बुल्के

—डा० कुमार सुरेश सिंह

फादर कामिल बुल्के से मेरा प्रथम परिचय 1961 में हुआ था। मैं उस वक्त मुण्डा क्षेत्र खूंटी में पदस्थापित था। मुण्डा भाषा सीख रहा था और मुण्डा लोकगीत एवं लोक साहित्य में रुचि जग गई थी। इसी सिलसिले में मुण्डा विशेषज्ञों के सम्पर्क में आया जिनमें कई मिशनरी थे। इनमें फादर बोनेट और फादर एक्सेम के नाम उल्लेखनीय हैं। इनसे विचार-विमर्श के लिए मैं "मनरेसा हाउस" जाता था। वहीं एक दिन फादर कामिल बुल्के से मुलाकात हुई। वे अपने कमरे में अपने शोध में डूबे हुए थे। लोक साहित्य एवं लोक गीतों के बारे में बातचीत हुई। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यह उनके शोध क्षेत्र के बाहर का विषय है, लेकिन उन्होंने एक बात बात पर विशेष जोर दिया, वह यह कि जो भी सामग्री एकत्रित की जाय वह हिन्दी में ही, चूँकि ज्यादातर लोग हिन्दी जानते हैं। छोटा नागपुर में आदिवासियों के बीच हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार में मिशनरियों का बड़ा हाथ रहा है और इसके पीछे यही भावना काम कर रही है।

फिर कई कारणों से लोक साहित्य में शोध का सिलसिला टूटा और मैंने बिरसा मुण्डा पर एक शोध ग्रन्थ लिखा। बिरसा मुण्डा मिशनरियों में उन दिनों लोकप्रिय नहीं थे। चूँकि इस मुण्डा नेता ने सिर्फ-ब्रिटिश शासन के विरुद्ध ही नहीं बल्कि मिशनरियों के खिलाफ भी बगावत की थी। मेरी किताब कुछ इन लोगों के बीच आलोचना का विषय बन गई।

1967 में एक नवयुवक मिशनरी पादरी ने महुआडाड में कुछ गलत काम किये और उन्हें देश के बाहर भेज दिया गया जो अपने ढंग की पहली घटना थी। मिशनरियों की इस कार्यवाई की ऊंचे स्तर पर समीक्षा की गई और इसमें मुझे भी लेना पड़ा। मैंने कहा कि कुछ मिशनरियों का भारतीय संस्कृति एवं आदिवासियों भाग के प्रति पूर्णतः समर्पित व्यक्तित्व हैं, उनका जीवन ऋषितुल्य है और मैंने इनमें से फादर कामिल बुल्के का नाम लिया। यह देखकर पर्याप्त सन्तोष हुआ कि इस विचार से सभी सहमत थे।

1978 में मैं पुनः छोटा नागपुर लौटा, इन विद्वानों से पुनः सम्पर्क स्थापित किया और सोचा की बिसरी-भूली कड़ियां फिर जुड़े। इस दौरान डा० कामिल बुल्के और मैं फिर नजदीक आये। उन्होंने मेरी बिरसा पर लिखी पुस्तक के हिन्दी अनुवाद करने पर जोर दिया ताकि लोग इस आदिवासी नेता के बारे में जाने और समझें।

परेशानियाँ बताने लगी। और तब मैंने देखा था स्त्री के कष्टों के प्रति उनकी चेतना। उन्होंने जब उस महिला से सुना कि वह दस घंटे प्रतिदिन एक लेडीज शॉप में काम करती है तब उनके माथे की सिलवटें और गहरा गईं, माथे पर हाथ मारकर बोले "ओफ क्या हो गया है इस देश को, जहाँ सीता और द्रौपदियों पर यह अत्याचार हो रहा है।"

मेरे आगे जैसे उनका कुछ विराट प्रकट हो गया। मुझे एक बार लगा पूछूँ "बाबा, जब स्त्री से आपको इतना स्नेह है, इतनी चिन्ता है फिर स्त्री संग नकार क्यों दिया।" पर यह प्रश्न मेरे होंठों पर ही आकर रुक गया। शायद झिझक से या यह सोचकर कि वे हँसकर कहेंगे सन्यास लेकर मैं कितने पुत्र-पुत्रियों का पिता बन गया, देखती नहीं।

फिर बीच-बीच में कई मुलाकातें हुई। कभी कुछ बड़ी कभी छोटी। इतनी भी छोटी कि मुझे लगता मैं सिर्फ उनके दर्शन को ही उन तक चली जाती हूँ। और कुछ बड़ी मुलाकातें बस किताबें चुनने के भाग-दौड़ में ही खत्म हो जाती थीं। ऐसी ही छोटी-बड़ी मुलाकातों के दौर में एक दिन उनके हाथों से बनी कॉफी भी पी थी और उनका शैशवी गर्व से भरा प्रश्न सुना था "बोलो, कैसी बनी है कॉफी ?"—मैंने हँसकर कहा, "अगर आप बावर्ची होते तो वहाँ भी साहित्य जैसी ख्याति पाते..." और बड़ी मोह में फंसी मन ही मन सोचती जा रही थी काश ! मैं शिव होती तो इसे कठस्थ कर लेती।

और अन्तिम मुलाकात याद आती है जब मैं पुस्तक खोजती एक पुस्तक उठाकर देखने लगी थी। पुस्तक का नाम था "मौत का पजा"। पुस्तक निबन्धों का एक सकलन था, लेखक आचार्य चतुरसेन शास्त्री।

वे मेरी ओर देखकर हँसते हुए बोले, "यह तो अब मेरी ओर बढ़ा आ रहा है।" उनके ऐसा कहने पर मैं बुझ-सी गई। पर, मैंने तुरत कहा, "तो इसे मैं अपने साथ ले जा रही हूँ।" इस पर उन्होंने गम्भीर होकर कहा, "इसके पजे बहुत लम्बे होते है, वहाँ से भी चली आएगी।"

जब उनकी मृत्यु का समाचार सुना तो बरबस वह घटना और वह पुस्तक आँखों के आगे आकर ठहर गई और एक प्रश्न दिमाग में कौंधने लगा "क्या उन्हें मौत का आभास पहले से ही होने लगा था।"

द्वारा जे० एन० वर्मा अधिवक्ता
मोरहाबादी रोड
करमटोली, रांची-8

फादर कामिल बुल्के

—डा० कुमार सुरेश सिंह

फादर कामिल बुल्के से मेरा प्रथम परिचय 1961 में हुआ था। मैं उस वक्त मुण्डा क्षेत्र खूंटी में पदस्थापित था। मुण्डा भाषा सीख रहा था और मुण्डा लोकगीत एवं लोक साहित्य में रुचि जग गई थी। इसी सिलसिले में मुण्डा विशेषज्ञों के सम्पर्क में आया जिनमें कई मिशनरी थे। इनमें फादर बोनेट और फादर एक्सेम के नाम उल्लेखनीय हैं। इनसे विचार-विमर्श के लिए मैं "मनरेसा हाउस" जाता था। वहीं एक दिन फादर कामिल बुल्के से मुलाकात हुई। वे अपने कमरे में अपने शोध में डूबे हुए थे। लोक साहित्य एवं लोक गीतों के बारे में बातचीत हुई। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यह उनके शोध क्षेत्र के बाहर का विषय है, लेकिन उन्होंने एक बात बात पर विशेष जोर दिया, वह यह कि जो भी सामग्री एकत्रित की जाय वह हिन्दी में हो, चूंकि ज्यादातर लोग हिन्दी जानते हैं। छोटा नागपुर में आदिवासियों के बीच हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार में मिशनरियों का बड़ा हाथ रहा है और इसके पीछे यही भावना काम कर रही है।

फिर कई कारणों से लोक साहित्य में शोध का सिलसिला टूटा और मैंने बिरसा मुण्डा पर एक शोध ग्रन्थ लिखा। बिरसा मुण्डा मिशनरियों में उन दिनों लोकप्रिय नहीं थे। चूंकि इस मुण्डा नेता ने सिर्फ ब्रिटिश शासन के विरुद्ध ही नहीं बल्कि मिशनरियों के खिलाफ भी बगावत की थी। मेरी किताब कुछ इन लोगों के बीच आलोचना का विषय बन गई।

1967 में एक नवयुवक मिशनरी पादरी ने महुआडाड में कुछ गलत काम किये और उन्हें देश के बाहर भेज दिया गया जो अपने ढंग की पहली घटना थी। मिशनरियों की इस कार्यवाई की ऊंचे स्तर पर समीक्षा की गई और इसमें मुझे भी लेना पड़ा। मैंने कहा कि कुछ मिशनरियों का भारतीय संस्कृति एवं आदिवासियों भाग के प्रति पूर्णतः समर्पित व्यक्तित्व है, उनका जीवन ऋषितुल्य है और मैंने इनमें से फादर कामिल बुल्के का नाम लिया। यह देखकर पर्याप्त सन्तोष हुआ कि इस विचार से सभी सहमत थे।

1978 में मैं पुनः छोटा नागपुर लौटा, इन विद्वानों से पुनः सम्पर्क स्थापित किया और सोवा की बिसरी-भूली कड़ियां फिर जुड़े। इस दौरान डा० कामिल बुल्के और मैं फिर नजदीक आये। उन्होंने मेरी बिरसा पर लिखी पुस्तक के हिन्दी अनुवाद करने पर जोर दिया ताकि लोग इन आदिवासी नेता के बारे में जाने और समझें।

पुस्तक की कुछ कमियों की ओर भी उन्होंने मेरा ध्यान दिलाया। 1979 मे अनुवाद पूरा हुआ और हिन्दी पुस्तक प्रकाशित हुई। वे बड़े प्रसन्न हुए। इसी बीच फादर पी० पोनेट और मैंने "मुण्डारिका एनसाईक्लोपीडिया" के दो अपूर्ण ग्रन्थों के जो 1942 से अप्रकाशित थे, प्रकाशन का कार्य पूरा किया और इस सिलसिले में एक समारोह का भी आयोजन हुआ जिसमे फादर बुल्के उपस्थित नही हो सके चूंकि वे अस्वस्थ थे, लेकिन उन्होने अपनी शुभकामनाएं भेजी थी।

फादर बुल्के से मेरी अन्तिम मुलाकात कुछ महीने पहले रांची हवाई अड्डे पर हुई थी। मुझे देखकर वे लपक कर आये और बड़े ही स्नेह एव आत्मीयता पूर्ण शब्दों में मेरा कुशल-क्षेम पूछा। मैंने कहा कि यह तो मुझे आपसे पूछना चाहिए। उन्होंने कहा "वृद्ध हो चला हूं और अस्वस्थ हूं।" मैंने कहा "आप अस्वस्थ नही दिखते हैं।" कुछ महीने बाद उनकी मृत्यु का समाचार पाकर मर्माहत हुआ।

फादर बुल्के के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता हिन्दी और भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा-प्रतिबद्धता थी। वे शोध में डूबे रहते थे और विषय की गहराई मे पैठने के लिए शोध-कर्त्ताओं को बराबर उत्साहित करते रहते थे। एक महान शोधकर्त्ता के रूप मे वे अपने विषय पर ही चिन्तन किया करते थे। अन्य विषयों की ओर ध्यान नही देते थे। इधर कई वर्षों से उन्होंने अपना पूरा समय और अपनी शक्ति 'अंग्रेजी हिन्दी कोश' और 'बाईबल' के हिन्दी अनुवाद पर केन्द्रित कर रखी थी। पहली पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई है। दूसरी पुस्तक अधूरी पडी है। इसे पूर्ण करनी चाहिए। यह एक चुनौती है, जिसे फादर बुल्के के नजदीकी और उनके प्रशंसक शोधकर्त्ता पूरा करेंगे, ऐसी मेरी आशा है। फादर बुल्के का शोधकार्य एक बहुमूल्य विरासत है जिसे और समृद्ध बनाया जायगा, यह मेरी कामना है।

—सरकार के विशिष्ठ पदाधिकारी

□ □ □

बाबा बुलके

—डा० श्याम सुन्दर घोष

बाबा बुलके आ रहे हैं। मैं जब उन्हें देखता तो मित्रों से यही कहता।

मित्र टोकते—बुलके क्यों कहते हो ? उनके नाम का सही उच्चारण है—बुल्के।

मैं बुलके खास वजह से कहता हूं। मैं बताता। मेरा मतलब है बाबा बुलके अर्थात् पैदल चलकर आ रहे हैं।

इसके बाद मैं उनके मूल नाम की व्याख्या करता—कामिल को लोग लैटिन शब्द मानते हैं और इसके दो अर्थ बताते हैं—एक तो फूल और दूसरा वेदीसेवक। ये आशय भी बाबा के नाम पर सटीक उतरते हैं। पर मैं तो कामिल का उर्दू अर्थ लेना ही पसन्द करता हूं। फिर मित्रों को मुहम्मद मुस्तफा खां 'मद्दाह' का उर्दू-हिन्दी शब्द-कोश दिखाता जिसमें कामिल का अर्थ है—पूरा, समूचा, सम्पूर्ण, बिल्कुल, मुकम्मल, सर्वांगपूर्ण, निपुण, दक्ष, होशियार; चमत्कारी साधु या फकीर। और फिर मैं मित्रों से पूछता कहिये, बाबा के मामले में कौन अर्थ लेना ज्यादा ठीक है ? क्या वे एक फूल मात्र हैं ? या केवल वेदी सेवक हैं ? या उससे भी बढ़कर कुछ और है ? मेरे अधिकांश मित्र मुझसे सहमत हैं कि बाबा के नाम का उर्दू अर्थ लिया जाना ही ठीक है।

केवल यही नहीं, मैं बाबा के नाम की एक नयी व्याख्या करता हूं—कोई-कोई सर्वांगपूर्ण, दक्ष, निपुण, होशियार चमत्कारी साधु फकीर यदि बुल के अर्थात पैदल चलकर सामने आये तो वह कैसा, कितना सहज और आत्मीय लगेगा। पैदल चलने में सहजता और आत्मीयता का भाव है, शनैः-शनैः और सहज उपलब्ध होने का बोध है। जो पैदल नहीं चलता, या पैदल चलकर किसी के पास नहीं आता, न जाने उसके प्रति मेरे मन में क्यों वैसा आदर भाव नहीं होता। सवारी पर बैठा हुआ पुरुष न जाने क्यों मुझे महापुरुष नहीं लगता। इसलिए मैं बराबर बाबा बुल्के को बुलके ही कहना मानता था। बाबा के चलने का ढंग था भी कुछ वैसा ही मोहक और निराले अन्दाज का। उनको दूर से पैदल आते देखना अच्छा लगता था। वे जब भी मनरेसा हाउस के अपने कमरे से कहीं थोड़ी देर के लिए भी बाहर जाते थे, तो एक तख्ती लटका जाते थे, जिस पर इस आशय का वाक्य लिखा होता—"मैं अभी थोड़ी देर में वापस आता हूं। तब तक आप बैठिये।" या ऐसा ही कुछ। वापस आते ही वे तख्ती समेट लेते और आगन्तुक से बातें करने लग जाते। ये तख्तियाँ

बताती थी कि बाबा को हरदम किसी का इन्तजार रहता। वे अपना कमरा बन्द कर शायद ही कभी जाते थे। हमे उनके कमरे में इन्तजार करना अखरता नहीं था, क्योंकि वहाँ ढेर सारी पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तकें पड़ी रहती थी—बिल्कुल नयी-से नई किताब और छोटी से छोटी अव्यवसायिक पत्र-पत्रिकाएँ।

वैसे तो लोग अधिकतर उन्हें फादर ही कहते थे। पादरियों के लिए प्रयुक्त होने वाले इस पवित्र और गरिमायुक्त संबोधन को वे भला कैसे नकारते। लेकिन इस शब्द से उनके व्यक्तित्व की गरिमा और स्नेह का वैसा बोध नहीं हो पाता जितना उनके लिए प्रयुक्त बाबा शब्द मे होता है। वे सही मे बाबा थे—हिन्दी अर्थ मे भी और अंग्रेजी अर्थ मे भी—एक साथ ही बूढ़े और शिशु। और फिर इसका बुल्के के साथ अनुप्रास भी ठीक बैठता था। बाबा अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग के पक्षपाती नहीं थे। यह उनको अखरता भी था। इसलिए भी उनको फादर कहने की अपेक्षा बाबा कहना अधिक सहज और सुविधाजनक था। दूसरे अंग्रेजी शब्दों पर तो वे तुरत आपत्ति करते। लेकिन बेचारे फादर शब्द के प्रयोग पर आपत्ति करते भी तो कैसे करते ?

बाबा से मेरी पहली मुलाकात इलाहाबाद मे तब हुई थी जब चीनी आक्रमण के बाद महादेवी वर्मा और बालकृष्ण राव ने लेखकों का एक सम्मेलन इलाहाबाद में बुलाया था। उसमें मैं भी आमंत्रित था और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अतिथि-निवास 'सत्यनारायण कुटीर' में ठहरा था। तब यह जानकर कि बिहार मे भी कोई श्याम सुन्दर घोष नाम के व्यक्ति आये है बाबा खोज करते हुए मेरे कमरे में आ धमके थे और यह जानकर कि मैं बिहार मे संताल परगने का वासी हूं, कहा था—देखिये, आपसे यहाँ इलाहाबाद मे मुलाकात हो रही है। मतलब यह उनका एक प्रकार का उपालम्भ था कि आपसे तो राँची में मुलाकात होनी चाहिए थी। मैंने तभी उनकी बात नोट की थी और राँची जाने पर यदा कदा उनके दर्शन कर लिया करता था। राँची में उनसे मेरी अंतिम मुलाकात सन 1980 के अक्टूबर माह में हुई थी जब उन्होंने अपनी दो पुस्तकें न्यू टेस्टामेंट का अनुवाद 'नया विधान' और बाइबिल की प्रार्थनाओं का हिन्दी अनुवाद The Hindi Psaltor of the Breviary की प्रतियाँ मुझे दी थी। ये दोनों पुस्तकें आज भी मेरे पास हैं और उन पर लिखा 'श्री श्याम सुन्दर घोष को सस्नेह' और उनका हस्ताक्षर आज भी स्नेह की अमूल्य धरोहर के रूप मे मेरे पास सुरक्षित हैं। उस मुलाकात मे डा० बालेन्दु शेखर तिवारी भी साथ थे और वे यह कहने मे नहीं हिचकिचाते कि बाबा का आप पर स्नेह है। वे हर किसी को अपनी पुस्तकें, अपने हस्ताक्षर सहित, नहीं देते। इस बारे में मुझे पता नहीं। इसलिए तब मैंने यही कहा था—"पता नहीं, सबको देते रहे हों, तभी तो मुझे भी दिया। संत स्वभाव के व्यक्ति हैं, सभी इनसे कुछ न कुछ पाकर ही लौटते हैं—

चाहे पुस्तक रूप में, या ज्ञान रूप में, या मिलने से प्राप्त होने वाले आनन्द रूप में।

बाबा को हिन्दी के लिए बड़ा प्रेम और दर्द था। वे इसकी अवहेलना नही सह सकते थे। वैसे तो वे चौदह भाषाओं के पंडित थे पर कुछ भाषाओं-फ्लैमिश, फ्रेंच, लैटिन, ग्रीक, जर्मन, अंग्रेजी, संस्कृत और हिन्दी पर तो उनका अधिकार ही था। लेकिन इनमें भी हिन्दी के लिए उनके मन में जो मोह-छोह था वह अद्भुत अपूर्व ही कहा जा सकता है। इसका कारण सम्भवत: यह रहा हो कि हिन्दी की उपेक्षा उन्हें सहन नही होती थी। हिन्दी हिन्दुस्तान में जिस ढंग से उपेक्षित है सम्भवत: वह उसकी पात्री नहीं है। इसी के कारण शायद हिन्दी के प्रति उनका विशेष पक्षपात रहा हो। या यह भी हो सकता है कि हिन्दी की अवमानना उन्हें अपनी मातृभाषा फ्लैमिश की अवमानना का स्मरण हो आता हो। वे बेलजियम में जिस वातावरण में पढ़े-लिखे उसमें फ्रेंच की तुलना में फ्लैमिश का वही महत्त्व और स्थान था जो अंग्रेजी की तुलना मे हिन्दी का, भारत में है। बाबा को अपनी मातृ-भाषा फ्लैमिश की अवमानना अपने देश मे खटकती थी। सम्भव है वैसा ही भाव वे भारत में आकर हिंदी के प्रति अनुभव करते रहे हों।

हिन्दी को बाबा का प्रेम मिला यह हिन्दी के लिए गौरव की बात ही कही जायगी। अन्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी से बाबा का सम्पर्क भी कितने दिनों का था। वे सन् 1935 मे भारत आये। यहां आने पर हिन्दी सीखी। पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय से संस्कृत में बी० ए० किया, फिर एम० ए० हिन्दी पढ़ने इलाहाबाद पहुंचे। लेकिन सन् 1950 में वहां से रामकथा पर डा० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन मे सर्वोच्च उपाधि मे पी० एच० डी० प्राप्त कर कर ली। फिर उसी साल रांची के सेन्ट जेवियर्स कालेज मे हिन्दी-संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हो गए। उसके बाद तो वे हिन्दी के ही होकर रह गये। बाबा असल में हिन्दी को हिन्द का पर्याय मानते थे। उनके व्यक्तित्व की सरलता, सहजता और निष्कपटता का मेल हिंदी से ही हो सकता था। मिशनों में अंग्रेजी का जो वातावरण रहता है, उसमे वे कैसे हिन्दी की धुनी रमाये रहते थे, यह सोचकर कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता है। शुरु-शुरु में उन्हें इसके लिए कितना कुछ न करना-सहना पड़ा होगा।

माना जाता है कि बाबा भारत आकर ही रामकथा में रमे। लेकिन नहीं, इसके उत्स उनको जन्मभूमि मे—विशेषकर उनके गाँव मे प्राप्त हैं। उनका जन्म बेलजियम के जिस छोटे से गाँव मे हुआ था उसका नाम था राम्स कैपल जिसका हिन्दी अर्थ बाबा राम का मंदिर बताते थे। तो जिसकी जन्मभूमि ही राम का मंदिर हो वे आगे चलकर रामकथा के मर्मज्ञ और विशेषज्ञ क्यों न होते? वैसे तो रामकथा के बारे में बाबा के पहले भी भारत मे काफी जानकारी थी लेकिन वह देश की सीमाओं के अन्दर की जानकारी थी। रामकथा के व्यापक विस्तार और वैविध्य के

बारे में प्रमाणिक ज्ञान भारत के लोगों ने बाबा के अनुसंधान के बाद ही प्राप्त किया। फिर तो विश्व भर की समस्त भाषाओं के प्राप्त रामकथाओं की सूची और सारांश तैयार करने का काम भी विश्व स्तर पर शुरू हुआ और इस अन्तर्राष्ट्रीय समिति को भी सदस्य के रूप में बाबा का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

बाबा के पांडित्य और रहन-सहन को देखकर ऊपरी तौर पर उनके बारे में यह धारणा बनती थी कि वे मूलतः धार्मिक साम्प्रदायिक पंडित हैं। लेकिन बहुत कम लोगों को मालूम है कि वे मूलतः भौतिक शास्त्र और उच्च गणित के विद्यार्थी थे और उन्होंने पहली डिग्री बी० एस० सी० की ली थी। दर्शन शास्त्र तो उन्होंने बाद में पढ़ा और फिर एक वर्ष के बाद आंइस्टिन को भी विशेष रूप से पढा। उनका यह वैज्ञानिक रूप भाषाओं की प्रकृति को समझने में बड़ा सहायक हुआ। उनका अंग्रेजी हिन्दी शब्द कोश जो इतने कम पृष्ठों का होकर भी इतना उपयोगी हो पाया उसके पीछे उनकी कार्य करने की वैज्ञानिक पद्धति ही है। उन्होंने बड़े नपे तुले ढंग से कोश का यह कार्य किया है। ऐसे संतुलित कोश और यह भी ऐसी दो भाषाओं से सम्बन्धित, जो विश्व की बड़ी विशिष्ट भाषाएँ हैं—कम ही पाये जाते है।

बाबा ने बाइबिल के न्यू टेस्टामेन्ट के अनुवाद के बाद ओल्ड टेस्टामेन्ट के अनुवाद का भी बीड़ा उठाया था और इसमें प्राण पण से जुटे थे। इसका बहुत-सा प्रारम्भिक काम उन्होंने कर लिया था। यदि यह काम हो गया होता, तो संसार उन्हें सम्पूर्ण बाइबिल के समर्थ अनुवादक के रूप में याद करता। लेकिन शायद यह विधाता को मंजूर नही था। नया विधान के अनुवाद में उन्होंने एक जगह लिखा है—"सफल अनुवाद की विशेषता यह होनी चाहिए कि उसमें अनुवाद की गंध नहीं मिले···बाइबिल के अनुवादक को अन्य अनुवादकों की अपेक्षा मूल की रक्षा करने के सम्बन्ध में अधिक सतर्क रहना चाहिए।" यहाँ उन्होंने 'मूल की रक्षा' के साथ 'अनुवाद की गंध नहीं मिले' दोनों शर्तों को रखकर अनुवाद को जाँचने की कसौटी प्रस्तुत की है। कहना न होगा कि बाबा का अनुवाद इस कसौटी पर खरा उतरता है। पर वे इसका श्रेय खुद न लेकर लिखते हैं—"यदि मुझे इस दिशा में कुछ सफलता मिल सकी तो उसका श्रेय डॉ० दिनेश्वर प्रसाद (हिन्दी स्नातकोत्तर विभाग, राँची विश्वविद्यालय) को है।" यह है बाबा का संत रूप और उनकी उदारता। बाइबिल के अनुवाद में दिनेश्वर जी के सहयोग को भुलाया नहीं जा सकता। लेकिन उसका जितना श्रेय और जिस रूप में बाबा उन्हें देते हैं वह वे ही दे सकते थे।

बाबा आचार और विचार से कितने सात्विक थे इसका पता उनकी एक स्वीकारोक्ति से लगता है जिसमें उन्होंने कहा है—"कभी स्त्री प्रसंग नहीं किया।

विवाह का ध्यान ही नही आया ।···विश्वविद्यालय में चार हजार विद्यार्थी थे, वेश्यालय भी थे। मैं कभी नही गया। नग्न चित्र भी नहीं देखे, समय ही नहीं था। सेक्सी फिल्म कभी नहीं देखी। समुद्र किनारे बोटिंग सूट में स्त्री को देखकर भी मन में दुर्भाव नहीं आया। सेक्स अनिवार्य है मैं नही मानता। भूख प्यास की तरह कामभावना सच नही।" ये उनके जीवन के शुरू के भाव हैं। वे स्त्री मात्र को आसानी से माँ का दर्जा दे देते थे। अपने से कई गुणा छोटी स्त्री के माँ कहते उन्हें संकोच नहीं होता था। वे सही अर्थों में संन्यासी थे।

गोड्डा कालेज
संताल परगना (बिहार)

□ □ □

एक संत साहित्यकार की याद

—शंकर दयाल सिंह

मेरी समझ में फादर कामिल बुल्के का उठ जाना औरों के उठने से सर्वथा भिन्न है। वे बेल्जियम होते हुए पूर्णतया भारतीय थे और पादरी होते हुए भी भारतीय परम्परा के ही संत, जिन्होंने न केवल अपने आपको इस मिट्टी में आत्मसात कर लिया था, वरन भारतीय कव्य धर्म के लिए अपने को समर्पित भी कर दिया था। जायसी, कबीर, रसखान आदि की परम्परा में यदि हम फादर कामिल बुल्के को लें, तो यह कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

कैसी विचित्र नियति

एक महीने के अन्दर तीन ऐसे विदेशी मिट्टी में पैदा, लेकिन भारत को ही अपना घर मानने वाले विभूतियों का देहावसान हुआ, जिसकी पूर्ति अब संभव नहीं है। मीरा बहन, सरला बहन और फादर कामिल बुल्के—ये तीनों पैदा हुए विदेश में, लेकिन इन तीनों ने अपने आपको भारत के लिए समर्पित किया और अंत-अंत तक भारत की अंतश्चेतना के साथ जुड़े रहे। मीरा बहन और सरला बहन गांधी जी की अनन्य भक्तिन थी और उन्होंने अपना सारा जीवन बापू को अर्पित कर दिया था, वहीं फादर कामिल बुल्के ने अपना सारा जीवन भारतीय साहित्य के मनन-अध्ययन में लगा दिया था और उनकी पहचान ही हो गई थी—राम कथा के अनन्य विद्वान। इन तीनों महान विभूतियों के सहसा उठ जाने से भारत—भू को एक अलग किस्म की क्षति हुई है, जिसकी तुलना किसी और से कर पाना संभव नहीं है।

फादर नहीं : पिता

फादर कामिल बुल्के से मेरा पहला परिचय आज से 30-32 साल पूर्व हुआ था, जब मैं 12-14 साल का किशोरपूर्व बालक था। मेरे पिताजी स्व० कामता प्रसाद सिंह 'काम' जिनका अधिकांश समय छोटा नागपुर में ही बीतता था और जिन्होंने उस क्षेत्र पर कई पुस्तकें भी लिखी, उनकी मित्रता उस क्षेत्र के सभी साहित्यकारों से तो थी ही, लेकिन विशेष रूप से मैंने यह पाया था कि कई विदेशी पादरी भी उनके घनिष्ठ मित्रों में थे, जिनमें फादर कामिल बुल्के का स्थान सर्वोपरि

कहा जायेगा। उतने दिनों की स्मृतियाँ धुंधली हो जाती है, लेकिन आज भी मुझे याद है कि फादर डिमोल्डर, फादर स्मिद, फादर टक्कर आदि कई थे, जो पिताजी से काफी संबंध रखते थे और पिताजी भी राँची-हजारीबाग में उनसे प्रायः मिला करते थे और उनमें से भी कई पटना आते थे तो इनसे मिलते रहते थे।

फादर कामिल बुल्के उनमें से एक होते हुए भी उन सबों से अलग थे और यही कारण था कि पिताजी के देहावसान के बाद यदि उनमें से किसी एक के साथ मेरा अंत तक संबंध रहा तो फादर कामिल बुल्के से ही। मैं जब कभी उन्हें फादर कहता था, तो वे मुझे टोक दिया करते थे—फादर नहीं, पिता, तुम मुझे पिता कहा करो।

यह स्नेह मिलना कठिन है।

विलक्षण अध्ययनशील

फादर कामिल बुल्के से जिन लोगों को प्रायः राँची में मिलने का मौका मिलता होगा, वे इस बात को अच्छी तरह जानते है कि वे विलक्षण अध्ययनशील व्यक्ति थे। सेंट जेवियर्स कालेज के पास जिस चर्च के साये में उनका निवास था जहाँ और भी फादर्स रहा करते थे, वहाँ बिल्कुल किनारे वाले अंश मे फादर कामिल बुल्के का निवास था और जाने पर ऐसा लगता था कि किसी बड़े से बड़े पुस्तकालय मे हम आ गये है। वे स्वयं पुस्तकों से घिरे रहते थे। सामने की मेज, पास की कुरसियां, बगल की आलमारियां, तिपाई—हर जगह पुस्तकें ही पुस्तकें।

उन्हें अपने मिशन की ओर से इस बात के लिए विशेष सुविधा थी कि वे चाहे जितने भी रुपयों की पुस्तकें खरीद सकते है। बड़े-बड़े प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं का भी आवागमन उनके पास इसके लिए बना रहता था। और कभी-कभी तो एक-एक महीने में वे पांच-सात हजार रुपयों की पुस्तकें भी खरीदते थे—ऐसा मेरा व्यक्तिगत अनुभव है।

और उन पुस्तकों का जैसा सदुपयोग फादर कामिल बुल्के करते थे वैसा शायद ही कोई करता हो। उनके यहाँ शोध-कर्त्ताओं, छात्रों तथा अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखने वालों का ताता लगा रहता था। वे सभी उनसे पुस्तकें ले जाया करते थे, जो फादर एक रजिस्टर में दर्ज करके देते थे और हजारों लोगों को इस प्रकार लाभ होता था।

शुरु में जब उनके पास पुस्तकों की संख्या कम थी तब तो ऐसे ही रखते थे, बाद मे मैंने पाया कि पुस्तकालयों के समान ही विषयवार डिसिमल प्रणाली के अनुसार वे पुस्तकें रखते थे, जिसमें किसी को भी जरूरत हो तो वह आसानी से निकाल सके।

मिलने गया, बराबर यही पाया कि अपनी मेज पर सिर झुकाये टेबुल लैंप के सहारे वे काम में डूब हुए हैं।

अद्भुत संवेदनशीलता

प्रायः जो मिशनरी या पादरी है, उनका सामाजिक जीवन अपने ही परिवेश में रहता है, लेकिन फादर कामिल बुल्के ऐसे संवेदनशील और सामाजिक थे कि अपने आसपास के लोगों की मदद करने हेतु प्रायः तैयार रहते थे। कई बार कई लोगों की मदद के लिए उन्होंने मुझे पत्र लिखा, जिनमें एक पत्र और घटना का उल्लेख करना आवश्यक मानता हूं।

एक लड़की एम० ए० करने के बाद उनके अधीन शोध-कार्य कर रही थी। भली-कुशाग्र और निरीह-सी लड़की और वह किसी गुंडे के आतंक में आ गई। हुआ यह कि उस आदमी ने झूठ-मूठ यह दावा कर दिया कि इस लड़की ने मुझसे शादी की है और मैं इसे अपने घर ले जाऊंगा। और अपनी रंगबाजी तथा पुलिस की मदद से वह उस लड़की को तंग करने लगा। वह लड़की किसी प्रकार अपने को मुक्त करके फादर कामिल बुल्के के पास रोते हुए पहुंची और उसने सारी बातें रोते हुए उनसे बताई। फादर भी इस पर बहुत रोये और उन्होंने मुझे इस संबंध में एक पत्र लिखा। मेरे लिए यह मामला अप्रत्याशित था तथा उससे भी आश्चर्य की बात थी फादर कामिल बुल्के द्वारा लिखा जाना। मैं उस बच्ची को तथा उसके परिवार को भी जानता था तथा वे लोग मेरे ऊपर भी काफी भरोसा रखते थे। अमूमन इस प्रकार के कामों से मैं अपने को अलग रखता हूं, लेकिन उस लड़की का मामला और फादर कामिल बुल्के का पत्र, अतः मैंने उस क्षेत्र के एस० पी० से इस मामले में मदद की अपील की और सारी बातें बताई। उन्होंने इस पर अविलम्ब कारवाई की, तब कहीं जाकर उस लड़की की इज्जत बची।

फादर कामिल बुल्के को जब इन बातों की सूचना उसी लड़की से मिली, तब वे बड़े प्रसन्न हुए और जब अगली बार उनसे मेरी मुलाकात हुई तो उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया।

'मोरिशस की वह याद

मौरिशस में जब द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ तो भारतीय प्रतिनिधि मंडल में फादर कामिल बुल्के भी एक सदस्य थे और मैं भी एक सदस्य था। पोर्ट-लुई में जहाँ प्रतिनिधि मंडल के ठहरने की जो व्यवस्था थी, उसमें मेरा और उनका कमरा आसपास ही थे। दोनों प्रायः सबेरे समुद्र किनारे घूमने निकल जाया करते थे। मेरे साथ ही श्री चन्द्रलाल चन्द्राकरजी भी थे, जो साहित्यकार और पत्रकार के अतिरिक्त एक बहुत अच्छे छविकार भी हैं। उन्होंने उस अवसर पर कई चित्र लिए, जो आज भी मेरे लिए बहुत बड़ी धरोहर है।

ऐसे ही एक दिन हम लोग जब समुद्र किनारे घूम रहे थे तो एक लड़का कई तरह के पत्थर और सीपी लेकर हमारे पास आया कि इनमें से हम चाहें तो कुछ खरीदें। वह हमसे टूटी-फूटी अंग्रेजी-हिन्दी-फ्रेंच और भोजपुरी में बातें कर रहा था, जिसे वहां क्रिओल कहते हैं। उसकी बातें हमारे समझ में नहीं आ रही थी और फादर को देखकर वह और भी फ्रेंच या अंग्रेजी में बातें करने का प्रयास कर रहा था, क्योंकि वह यही समझ रहा था कि यह भला हिन्दी क्या जानते होंगे। फादर कामिल बुल्के ने उसे शुद्ध हिन्दी में कहा-हिन्दी में बोलिए!

हमार हिन्दी समझ में रऊआ के आई?—लड़के ने शुद्ध भोजपुरी में अपनी बातें कहीं, जो उसके घर-संस्कार की भाषा थी।

काहे न आई, रउआं एही मे बोलीं।—इधर से फादर कामिल बुल्के ने भोजपुरी में ही कहा।

इस बात से उधर लड़का भी चकित और हम भी चकित। फादर कामिल बुल्के का भाषा-ज्ञान विचित्र था। और अन्त-अन्त तक वे एक विद्यार्थी के समान भाषाओं का अध्ययन करते थे।

राम का नहीं : तुलसी का भक्त

रामकथा के उद्भव और विकास पर उन्होंने विशेष काम किया था और रामकथा के उद्भट विद्वान के रूप में ही उनकी ख्याति भी थी। लेकिन बातों के क्रम में बराबर वे यह कहा करते थे कि मैं राम का नहीं तुलसी का भक्त हूं। मेरा अपना ख्याल है कि जितने मनोयोग पूर्वक उन्होंने तुलसी-साहित्य का अध्ययन किया था, उस तरह का अध्ययन देश में कुछ ही और लोगों का होगा। हालांकि तुलसी संबधी उनका अध्ययन धार्मिक न होकर विवेचनात्मक था और तुलसी जयन्ती के अवसर पर लोग जब उन्हें बुलाते थे, तो प्रायः उन्हें निराश ही होना पड़ता था, क्योंकि किसी रामायणी के समान डा० कामिल बुल्के न तो धर्म का मर्म बताते थे, न राम-वन-गमन और सीता-स्वयंवर की राग-ध्वनि के साथ पाठ ही शुरू करते थे, बल्कि उनकी शुद्ध और सात्विक दृष्टि गोस्वामी तुलसीदास के विपुल साहित्य की ओर ही होता था।

जब कभी मैंने उन्हें गोस्वामी तुलसीदास जी पर बोलते हुए देखा तो भाव-विभोर हो जाते थे, एक वाक्य जब तक समाप्त हो या नहीं, तब तक दूसरा वाक्य उनकी जिह्वा पर फुदक आता था। वे किसी भक्त के समान न तो रामायण का रोज पाठ करते थे और न किसी कथा-वाचक के समान रामायण की कथा का पारायण करते थे, लेकिन वे एक ऐसे संत-तुल्य व्यक्ति थे, जो रोज मानस-सरोवर में स्नान भी करते थे तथा महात्मा तुलसीदास के प्रति समर्पित थे।

ठहरिए, मैं अपना कान ले आता हूं

फादर कामिल बुल्के आत्मीय और अनौपचारिक के साथ-साथ बड़े ही मनोविनोदी भी थे। इधर दस-पन्द्रह वर्षों से उन्हें कम सुनाई देता था और वे

मननशील इतने थे कि इसे भी एक देव का वरदान ही मानते थे कि शोर-गुल से दूर अपने अध्ययन में ही लगे रहते हैं, बेकार बातें कानों मे नहीं जाती हैं। लेकिन हम सब जब उनसे मिलने आते थे और बातचीत शुरू होती थी, तो वे प्रायः बीच में ही कह उठते थे—ठहरिये, मैं जरा अपना कान ले आता हूँ।

और तब अपना इयरफोन लगाकर आते थे। बातों मे काफी रस लेते थे तथा जब कभी मूड मे हों तो स्वय काफी बनाकर पिलाने लगते थे।

वे कभी भूले नहीं जायेंगे

रामकथा के अतिरिक्त सामान्य पाठक, विद्यार्थी या रोजमर्रे के कामकाज के लिए उनकी सबसे बड़ी देन है 'अंग्रेजी हिन्दी शब्दकोश'। उनके पहले अंग्रेजी-हिन्दी की जो भी डिक्शनरियां थी, वे आधी-अधूरी या व्यवसायिक गुटका या फिर काफी बोझिल। उनमें से एक भी ऐसा कोश नही था, जिसके सहारे संतुष्टि-पूर्वक आदमी रोजमर्रे का काम कर सकता था। डॉ० कामिल बुल्के ने उस अभाव की पूर्ति अपने कोश के द्वारा की और कम समय मे ही उनके द्वारा सम्पादित कोश को जो मान्यता हुई, जो यश मिला तथा जितने सस्करण उसके हुए उसमे उन्हे काफी संतोष था।

कोश-सम्पादन के क्रम में उन्होंने देश के अनेक विद्वानों और मित्रों से काफी सहायता ली। एक बार मेरे पास उनका एक कार्ड आया जिसमे उन्होंने पूछा था—हिन्दी में गदहवेर के लिए और कौन-कौन शब्द है? मैं समझता हू कि ऐसे ही जिज्ञासा भरे पत्र उन्होंने न जाने कितने लोगो को लिखा होगा।

जब कभी उनके कोश का नया सस्करण होता था वे उसमें कुछ-न-कुछ जोड़-घटाव किया करते थे। यह उनकी निरन्तर शोध-वृत्ति का ही द्योतक था।

स्वयं भी सम्मानित : दूसरों का भी सम्मान

फादर कामिल बुल्के एक सच्चे इसाई पादरी थे और उनके जीवन का आचरण भी उसके अनुरूप होता था। दया, करुणा, भक्ति, सत्य आचरण तथा दूसरों का सम्मान उनके संस्कारों मे घुलमिल गया था। विनयशीलता ऐसी थी कि छोटे-से छोटे लेखक के प्रति भी नतमस्तक होते थे।

कई लोगों की चर्चा वे प्रायः किया करते थे, उनमे एक डॉ० धर्मवीर भारती भी हैं, जिनकी बातें वे बराबर करें और हंसते हुए कहा करते थे—तुम्हें मालूम है, हम दोनों गुरुभाई है।

कैसे ?—जब मैं पूछता, तो बड़े प्रेम से बताते हम दोनों सहपाठी रहे हैं। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एक साथ हिन्दी मे एम० ए० किया है। इस तरह से दोनों गुरुभाई हुए।

उनके मुंह से आज तक किसी की आलोचना मैंने नहीं सुनी। हर किसी के प्रति उनके मन में सम्मान था। स्नेह तो उनके रोम-रोम से टपकता था। उनके उठ जाने का दुखद समाचार पाकर हजारों छात्रों, शोधकर्ताओं उनके परिवेश में आये लोगों को सच में ऐसा ही लगा होगा कि उनके बीच से उनका पिता उठ गया।

अभी बहुत काम करना बाकी है

जब भी मैं उनसे मिला, प्रायः उनसे यही सुनने को मिला—देखो, अभी बहुत काम करना बाकी है।

इन दिनों वे बायबिल का सरल अनुवाद कर रहे थे। बायबिल के जो भी हिन्दी संस्करण उपलब्ध हैं, उनके अनुवाद से वे संतुष्ट नहीं थे। उनका कहना था कि ये शुष्क हैं और ठीक से इन्हें पाठक ग्रहण नहीं करते हैं। पता नहीं उनका वह कार्य पूरा हुआ कि वह भी अधूरा ही है।

आप हिन्दी नहीं जानते ?

एक बार एक सज्जन, जो बड़े अधिकारी हैं मेरे ही साथ उनसे मिलने रांची में उनके आवास पर गये। उन्होंने फादर को बताया कि बहुत पहले संट जेवियर्स कालेज में वे उनके शिष्य रह चुके हैं। फादर कामिल बुल्के हिन्दी में बातें करते जा रहे थे, लेकिन वह सज्जन अंग्रेजी में। जब फादर से यह स्थिति असह्य हो गई तो उन्होंने उनकी बात बीच में ही काटते हुए कहा—आप हिन्दी नहीं जानते ?

उन सज्जन ने पुनः अंग्रेजी में ही इसका भी उत्तर दिया। फादर को इसमें और भी झल्लाहट हुई—मैंने आपको हिन्दी ही पढ़ाया होगा और मैं जब विदेशी होकर आपसे हिन्दी में बातें कर रहा हूँ, तब आप अपनी मातृभाषा और राष्ट्रभाषा में बातें क्यों नहीं करते ? यह शर्म की बात है।

वह सज्जन इस पर झेंप गये और अंगूठे से जमीन कुतरने लगे, उनका झुका माथा फिर ऊपर नहीं हुआ।

वह आखिरी मुलाकात

विगत 23 अप्रैल 1982 को रांची में बड़े ही भव्य रूप में 1857 के वीर सेनानी बाबू कुंवर सिंह की जयन्ती का आयोजन किया गया, जिसमें मुख्य अतिथि के रूप में डॉ० कर्ण सिंह रांची पहुँचे और साथ में मैं भी था। मुख्य समारोह का उद्घाटन आयोजकों ने फादर कामिल बुल्के द्वारा ही रखा था। मैं आयोजन का सभापतित्व कर रहा था। जब मैंने उनका परिचय देते हुए कहा कि फादर कामिल बुल्के द्वारा इस अवसर पर कहा हुआ एक-एक वाक्य हमारे लिए इतिहास होगा, तब मैं यह कहाँ जानता था कि मंच से इसके बाद फादर हमसे इस प्रकार विदा हो जायेंगे और उनकी बातें मंच से हमारे लिए ऐतिहासिक धरोहर हो जायेंगी।

लेकिन उसमें पहले की बातें न भूलने वाली हैं, न भुलाने वाली। डॉ० कर्ण सिंह जी जब हवाई अड्डे पर उतरे तो उन्होंने कहा कि यहाँ से मैं सीधा डॉ० कामिल बुल्के से मिलने जाऊँगा। आयोजकों ने जब उन्हें इस बात की सूचना दी कि वे समारोह में आयेंगे ही, लेकिन डॉ० कर्णसिंह ने कहा कि नहीं रांची आकर यदि मैं उनसे मिलने उनके निवास पर नहीं गया तो, यह सर्वथा अनुचित होगा।

और डॉ० साहब सीधे फादर कामिल बुल्के से मिलने उनके निवास पर गये। दोनों में लगभग एक घंटे तक विभिन्न विषयों पर बातें होती रहीं, जिसमें मुख्य रूप से हिन्दी की ही बात थी। फादर कामिल बुल्के अपनी स्वाभाविक चिन्ता डॉ० कर्ण सिंह से व्यक्त कर रहे थे—हिन्दी का क्या होगा? राष्ट्रभाषा के मार्ग में अनेक रोड़े है, उन्हें आपके समान तेजस्वी व्यक्ति ही दूर कर सकता है। मैं तो अब बहुत बूढ़ा हो गया।

और दूसरी ओर डा० कर्ण सिंह उस महान मनीषी के सामने बार-बार यही दुहरा रहे थे—आपको अभी बहुत दिनों तक हम लोगों के बीच रहना है तथा मार्ग-दर्शन करना है।

हिन्दी के लिए समर्पित दोनों व्यक्तित्वों के विचारों का साक्षी बना मैं आज सोचता हूं कि काश उन क्षणों को टेप कर लेता तो वह कितनी बड़ी धरोहर होती। सतोष है तो यही कि उस समय की तस्वीर मेरे पास सुरक्षित है, जिसे यहा दे पा रहा हूं।

दुख है कि आखिरी दर्शन नहीं कर सका

6, 7 और 8 अगस्त 1982 को पटना में 'रायकृष्णदास व्याख्यान माला' का आयोजन था, जिसका सयोजक मैं था, अत. व्यस्तता स्वाभाविक थी। उसी बीच मुझे 7 की शाम को बधुवर अमर कुमार सिंह का स्लिप मिला कि फादर कामिल बुल्के काफी बीमार है तथा कुर्जी के होली-फैमिली अस्पताल में भर्ती है। मैंने यह सूचना सर्वश्री गंगा बाबू, अज्ञेय जी, विद्यानिवास जी आदि को दी, जो उन दिनों व्याख्यान-माला के अन्तर्गत पटना में ही थे। गगा बाबू, अज्ञेय जी, विद्यानिवास जी और डा० आनन्दकृष्ण पटना के कुर्जी अस्पताल में उन्हें देखने गये, लेकिन आयोजन में फंसे रहने के कारण मैं उस दिन नहीं जा सका। आयोजन समाप्तकर तीसरे दिन मैं जब कुर्जी अस्पताल में पहुंचा तो पता चला कि फादर की हालत ज्यादा खराब थी और वे दिल्ली भेजे गये हैं।

मेरा अपना अनुमान है कि दिल्ली जाने वाला हर आदमी सही-सलामत वापस लौटकर नहीं आता। और फादर कामिल बुल्के भी न लौटे और वही आयुर्विज्ञान अस्पताल में 17 अगस्त को वे सदा के लिए हमसे बिछुड़ गये। अब वह काया-जिसे हजारों-लाखों लोग दूर से ही पहचान जाते थे और जिसका अनहद ऋण है हिन्दी के ऊपर वह सदा के लिए सो गया। हम यह भी जानते हैं कि जिस आदमी ने विगत

50 वर्षों तक भारत में रहकर इस देश के लिए, इस देश की तथाकथित राष्ट्रभाषा के लिए, रामकथा के लिए, भक्ति के लिए, तुलसी-साहित्य के लिए, शिक्षण के लिए, हजारों अनाथों के लिए बहुत कुछ किया, उनके लिए शायद हम कुछ नहीं कर पायेंगे, क्योंकि फादर कामिल बुल्के का कोई कुनबा नहीं था, जो समय-सदर्भ के लिए, स्वार्थ-सिद्धि में कोई काम दे सके। वे तो ऋषि-परम्परा के अकेले व्यक्ति थे, जिसका दभ होता है इतना ही कि वह बिना किसी को एहसास दिलाये औरों के लिए जीता है।

इसीलिए फादर कामिल बुल्के का उठना औरों की तरह उठने से भिन्न है। अब उस कद-काठ का, उस पादरी लिबास में, वह ताँबवर्णी चेहरा, मुस्कराती आँखें, बातों में स्नेह टपकाती स्वर-तरणी तथा सहज-सुलभ व्यक्तित्व आसमानी से हमें उपलब्ध नहीं होगा।

संतोष है तो यही कि एक बार भी जो फादर कामिल बुल्के से मिला होगा वह उन्हें कभी भी भूल नहीं सकता। और मैं तो उस महान तपस्वी को और भी नहीं बिसरा सकता हूं, जिसने अपने अंग्रेजी-हिन्दी कोश को यह लिखकर मुझे भेंट किया—पितृ-भक्त शंकर दयाल को!—पिताजी से उनका अभिप्राय स्वयं से था, जिसे मैं स्वीकार करता हूं।

कामता-सदन, बोरिंग रोड, पटना—1.

□ □ □

मैं फूल और तुम सूर्य

—गर्जेले (1830—1899 ई०)

अनुवादक : डा० दिनेश्वर प्रसाद

फादर कामिल बुल्के के सबसे प्रिय कवि थे फ्लेमिश कवि गर्जेले। गर्जेले फादर बुल्के की तरह ही जेसुइट सन्यासी थे और इन्होंने फ्लेमिश भाषा को वही ऊंचाई दी जो तुलसी ने अवधी, सूर ने ब्रजभाषा या गेटे ने जर्मन भाषा को।

प्रस्तुत कविता का फ्लेमिश से अंग्रेजी अनुवाद स्वयं फादर बुल्के ने किया था। फादर के ही आग्रह पर डा० दिनेश्वर प्रसाद ने इसका अनुवाद हिन्दी में किया था।

डा० दिनेश्वर प्रसाद का कहना है कि ये कविताएं उनकी मानसिकता के बहुत समीप थीं।

मैं फूल
और मैं तेरी आंखों के सम्मुख होता विकसित
ओ प्रखर सूर्य-आलोक ! चिरन्तन अविकृत !
जो मुझ नगण्य कृति को
जीवित रखने की अनुकम्पा करता
और इस जीवन के पश्चात् मुझे
शाश्वत जीवन प्रदान करता।
मैं फूल
और मैं ऊषा में खिल जाता हूं
अपनी पंखड़ियां सन्ध्या में मुद्रित करता
ऐसा ही बारी-बारी से तब तक होगा
जब तक ओ सूर्य ! उदित हो कर
तू मुझे अनुज्ञा देगा यह
फिर एक बार मैं जग जाऊं
या मेरा शीश नींद से अवनत हो जाये।
तेरा प्रकाश मेरा जीवन—
मेरी सक्रियता—निष्क्रियता. मेरी आशा
मेरा उल्लास, अनन्य और सर्वस्व वही।
तेरे अभाव में मैं

मरने के सिवा और क्या कर सकता ?
तेरे अतिरिक्त और क्या जिसको प्यार करूँ ?
मैं बहुत दूर तुझसे, यद्यपि
तू मधुर स्रोत सब जीवन का,
उन सब का जो जीवन देते,
सबसे समीपता से तू ही मुझको छूता
प्रीतिकर सूर्य !
मेरे अन्तर के अन्तर तक
निज सर्वमेवनो ऊष्मा संचारित करता।
ले चल ! ले चल !
खोल दे सभी पार्थिव बन्धन
मुझको समूल उत्पाटित कर
धरती से कर उच्छिन्न मुझे
जाने दे मुझको वहां, जहां
हर घड़ी ग्रीष्म ओ' सूर्यातप।
जल्दी ले चल तू वहां,
जहां शाश्वत अप्रतिम सर्वसुन्दर
ओ ! फूल ! स्वयं तू विद्यमान।
वे हों समाप्त, परित्यक्त, शेष
जो हमें परस्पर बिलगातीं,
जो गहरा गर्त बनाती हैं।
ऊषा, सन्ध्या—
वे सब, जो हो जातीं व्यतीत,
हो जायें विदा :
अपने स्वदेश में देखूं मैं
तेरा सीमा-विरहित प्रकाश !
तब मैं सम्मुख…
ना ! नहीं केवल तेरी आंखों के सम्मुख,
बल्कि एकदम निकट पार्श्व में,
बल्कि स्वयं तुझ में ही विकसित हो जाऊंगा
यदि तू मुझे, तुच्छ कृति को
जीवित रखेगा
यदि देगा प्रवेश
निज अविनश्वर प्रकाश में !

ज्योति पुरुष कामिल बुल्के के लिए

—डा० अमर कुमार सिंह

मेरे देश !
वह कौन था
जिसकी नीली आंखों में
सतरंगे बादल के टुकड़े सुलगते थे
जब वे धरती पर बरसते थे
तो पूरा भारत लहर जाता था……
वह किसकी हंसी की गूंज थी
जिससे रांची की सघन ठंडी पहाड़ियों
हरे भरे ऊंचे दरख्तों पर
उजले कबूतरों के झुंड मंडरा जाते थे……
वह किसके दूधिये पारदर्शी चेहरे की लहक थी
जिससे ताजे फूल सकुचा जाते थे……
वह कौन था
जिसके उजले पटुए सी दाढ़ी से
सूरज को मात करने वाला नूर टपकता था……
कभी जिस रेशम सी मुलायम दाढ़ी से
अगणित बच्चे खेलते थे……
उनकी किलकारी उसमें समा जाती थी
और वह तिहत्तर वर्ष का बूढ़ा
प्यार में सिमटकर
तीन वर्ष का बच्चा हो जाता था……

□

मेरे भारत !
वह कौन था
जो कहता था
मेरे प्रभु को अंग्रेजी में प्रार्थना पसंद नहीं
इसलिए हिन्दी में करता हूं……
वह कौन था

जो कहता था
महादेवी मेरी बहन हैं
क्योंकि वह भी मेरी स्वाभिमानी बहन की तरह
कभी विदेशी भाषा नहीं बोलतीं…
वह कौन था
जो कहता था
मेरी माँ भी
सुमित्रा की तरह सोचती थी
'पुत्रवती जुबती जग सोई,
रघुपति भक्तु जासु सुत होई'
उसने इसी भाव से
मुझे संन्यास के लिए विदा दिया था
उसकी छवि
सुमित्रा जैसी थी
वह कौन था
जिसने इस युग में भी
एक संस्कार सम्पन्न भारतीय शिष्य की तरह
नयी रामकथा सुनाकर
गुरू को सर्वोत्तम दक्षिणा दी थी…
वह कौन था
जो आजीवन
तिग्गा, हलमान, बजरंग और गड़ी
की सेवा करता रहा
और समाधि भी ली तो उसी कब्रिस्तान में
जहाँ तिग्गा,हलमान, बजरंग और गड़ी हैं…
मृत्यु के बाद
क्या वह उनके
और निकट हो गया…?
मेरे भारत !
वह कौन था
जो कहता था
एक छोटा देश मुझसे छूट गया
और एक विशाल देश का प्यार मुझे मिला
मेरे देश !
वह कौन था

जिसके मां-बाप
बेलजियन थे,
लेकिन, तुम्हारा जो अत्यन्त आत्मीय था
जिसके लिए अन्तिम प्रार्थना
उसके इच्छानुसार हिन्दी में की गई
अगर वह विदेशी था
तो भारतीय कौन है ?
मेरे भारत !
उसने तुम्हारी सेवा की
तुमने उसे प्यार दिया
वह तुम्हारे प्रति कृतज्ञ था
तुम उसके प्रति विनत…
वह तुलसी का 'संत समीरा' था
उसने तुम्हारी रामकथा
के चंदन तरु की गंध गरिमा को
सर्वत्र बिखेर दिया
और स्वयं भी किन्हीं मुट्ठियों में
बंद नहीं रहा…

एम० आई० जी० 108
कंकड़ बाग, पटना-20



वह कालजयी क्षण

कभी मैं भूल ही नहीं सकता 18-8-82 की वह उदास और बोझिल सुबह
संख्या में बुल्के जी के आत्मीय जन उपस्थित थे। दिल्ली के निकलसन कब्रि-
न में उनके अंतिम दर्शन के लिए, दस बजे ताबूत आया। जब खुला तो उनका
रूप उस दिन की तेज धूप को मात करने लगा। प्रार्थना की मुद्रा में माला-
हाथ जोड़े वह मित्रों से भी विदा ले रहे थे। उन पर पड़े ताजे फूल उनके
पे पारदर्शी चेहरे की लहक से सकुचा रहे थे। वहीं खड़े, करील की ठंडी छांह
गा कि उस छायादार महावृक्ष का छत्र नहीं रहा जिसके तले आतप, अंधड़, धूप,
रात, गर्मी से मैं और न जाने मेरी तरह कितने लोग बचते थे। करील की वह
अब ठंडी नहीं रह गयी थी। ऊपर तवा सा तपता आकाश था। और नीचे
की स्नेहिल छाया के बिना मै और मेरी तरह झुलसते अनेक लोग। मैंने साहस
रकर देखा जहरबाद का अपार कष्ट देने के बावजूद उन पर मृत्यु अपनी पीड़ा
निशान नहीं लगा पायी थी। अमृत पुत्र को सुदिव्या मुक्ति ने अपने वात्सल्यमय
में भर लिया था। उनके चेहरे पर स्थिर शांति और प्रसन्नता से यह प्रकट
। उस दिन लोगों के वहां से जाने के बाद भी घंटों अकेले में वहां बैठा रहा।
ी कभी उस अकेलेपन को बंदरों की धमा-चौकड़ी तोड़ देती थी। उनकी "राम
त" का यह प्रसंग मेरे सामने था 'छोटा नागपुर में रहने वाली उरांव तथा मुण्डा
तियों में तिग्गा, हलमान, बजरंग और गड़ी नामक गोत्र मिलते हैं, इन सबका
बंदर ही है। कैसा विचित्र संयोग था! न केवल अपने जीवन काल में वह
रतीय समाज के पिछड़े वर्ग आदिवासियों की सेवा उनकी जन्म भूमि
वी में रहकर करते रहे बल्कि समाधि भी ली तो कब्रिस्तान में जिसमें तिग्गा,
मान, बजरंग और गड़ी यानी बंदर बड़ी संख्या में हैं। मैंने उसी क्षण वहीं
क कविता लिखी थी जो आपको भेज रहा हूं। यह इतनी निजी है कि आपके
तिरिक्त और किसी को दे नहीं सकता।

—भ्रमर

संदर्भ के लिए

(एक अपरिचित बहन का पत्र परिचित भाई को)

'अक्टूबर अंक' 'मुक्तकंठ' की विशेष परम्परा में स्व० श्रद्धालु फादर बुल्के अंक है। 'मुक्तकंठ' निष्पक्ष पत्रिका के रूप में सबों के समक्ष है। अपने को रोक नहीं पा रही हूं, और आज पुनः भ्रष्टाचार अनीति के विरुद्ध लेखनी उठ पड़ी है। आज तक मैं यही समझती थी कि राजनीति में ही भ्रष्टाचार व्याप्त है—किन्तु लेखक, साहित्यकार उस सीमा को भी लांघ चुके है। स्वर्गीय मेरे फादर बुल्के संबंधित कुछ ऐसी बातें हैं, जो आपके समक्ष प्रस्तुत कर रही हूं।

फादर बुल्के 16-7-82 से 8-8-82 की सुबह तक कुर्जी अस्पताल में रहे। 20-7-82 से लेकर 8-8-82 रविवार सुबह सात बजे तक प्रायः हम लोग फादर के पास थे। पारिवारिक परिस्थितियां कुछ ऐसी रही कि मैं आपको सूचित नहीं कर सकी यहां तक कि राखी वाले पत्र में भी सूचित करना चाहा—। जबकि मैंने न जाने कितने लोगों को पत्र द्वारा सूचित किया होगा। क्षमा किस मुंह से मागूं ?

5 सितम्बर वाले हिन्दुस्तान पत्रिका में जो बातें आईं, वे कितनी सत्य है, इसका निर्णय आप स्वयं कर लेंगे। उस क्रम में जितने लोग फादर के पास रहे, जो मेरे परिचित और अपने है, उनकी रोज-रोज की तानाशाही ने मुझे आज आपके पास पत्र लिखने को मजबूर किया—आपसे ज्यादा भी फादर के संबंध में कोई लिख सकता है। आप चुप क्यों हैं, लिखती क्यों नहीं—क्यों लोग गलत बातें पत्र-पत्रिकाओं में देते है इत्यादि। अपने नाम के आगे डा० लिख लेना आज के युग में बहुत बड़ी बात है, चाहे वह डा० डिग्री कैसे प्राप्त हो गई हो। 'हिन्दुस्तान' में सर्वप्रथम बात आई कि फादर 8-8-82 की सुबह दिल्ली गये। फादर के साथ जाने वाली नर्स विदेशी है। कुर्जी अस्पताल शहर से बहुत दूर है। यातायात की सुविधा नहीं है। इस सूचना को पोशीदा रखा गया, ऐसी फादर की आज्ञा थी। इस संबंध में मैं क्या कहूं—फादर बुल्के रविवार 8-8-82 की सुबह अस्पताल से सात बजकर दस मिनट पर निकले। सुबह 6 बजे से मैं, मेरे परिवार के लोग, बच्चे, नोट्रे डम की सिस्टर्स, सीता, उनके पति, ब्रदर इमानुराल, फादर डेलपोर्ट, सिस्टर जान, सिस्टर ऐन आयरीन रोज 254 नं० कमरे में थे। तदुपरान्त लिफ्ट से उन्हें नीचे तक लाया गया, उसके बाद एम्बुलेन्स में स्ट्रेचर से चढ़ाया गया। रविवार का दिन था। अतः उस दिन ईसाइयों की विशेष प्रार्थना होती है। अश्रुपूर्ण विदाई बेला। गाड़ी में

फादर डेलपोट (जो दिल्ली तक साथ गये, ऐन आयरीन वह भी) प्रशासिक कुर्जी अस्पताल (सिस्टर जान), ब्रदर इमानुएल हवाई अड्डे तक गये। गाड़ी को धीरे-धीरे ले जाना था, अतः वे सभी 7-30 बजे अस्पताल छोड़ दिये। कमरे से निकलते वक्त मुझे पकड़ कर फादर कितना फूट-फूटकर रोये वह वर्णनातीत है। 250, 253 और 254 न० के कमरे मे फादर रहे। तीन बार उनका कमरा बदला गया।

ऐन आयरीन विशुद्ध भारतीय परिचारिका है, उन्हें भी आश्चर्य है कि वे विदेशी कैसे बन गयी।

कुर्जी अस्पताल शहर से कितनी दूर है, आप जान सकते है। यातायात की असुविधा इतनी है कि प्रत्येक दस मिनट पर वहां के लिये बस सेवायें है और फिर फादर बुल्के के परिचित संबधी अपने बेटे-बेटियां उनसे दुर्गम पहाड़ पर भी मिल आते। कुर्जी की बात क्या है ?

सुबह सात बजे से लेकर 9-30 बजे तक मैं फादर के साथ होती। शाम का प्रतिदिन का खाना मेरे घर से जाता और 5 बजे शाम से लेकर 8 बजे रात तक मेरे घर के लोग फादर को खाना खिलाकर लौटते। अस्पताल का खाना बहुत कम खाते।

सूचना का जहां तक प्रश्न है, कुर्जी अस्पताल से कम से कम पचास पत्र मैंने अवश्य लिखे होंगे और उन व्यक्तियों में से कुछ को तो आप अवश्य जानते होंगे। जैसे —यशपाल जैन सस्ता साहित्य मंडल, कनाट प्लेस, नई दिल्ली-110001, उषा अरोड़ा जयपुर, विजयेन्द्र स्नातक दिल्ली, डा० रघुवंश कुंकुम द्वारा आर० एस० सिंह, 288 पा० कालोनी, पटना-13 पत्र मिला होता तो मुझे विश्वास है वे जरूर आतीं। रांची, योरप जिन पत्रों को मैंने डाला उनका उत्तर भी मेरे पास आया। पत्र फादर स्वयं लिखवाते—और कहते लिख दो—वो देखो मेरी कापी है, उसमे पता लिखा है—सबों को सूचित कर दो, ताकि वे मुझे दोष न दे सके। उन्हें पता था, वे बचेंगे नहीं। तब भी उनसे मिलने कोई आता वे फूट पड़ते, कहते—मृत्यु से मैं डरता नहीं, मृत्यु निर्विवाद सत्य है, किन्तु मेरा अधूरा अनुवाद बाइबल कार्य ?

कुछ लोगों ने क्षणिक समय का लाभ उठाया। सारी दुनिया जानती है या जान रही है वे लोग फादर के बहुत करीब रहे परन्तु उन लोगो को जवाब देना दुष्कर है—जिन नोविसों ने अपने पठन-पाठन, पूजा-प्रार्थनाएं छोड़कर फादर की सेवा में लीन रहे और प्रतिकार में अपना नाम भी प्रकाशित नही करवाना चाहते ? कभी दुनियां जान सकेगी ? वे लोग जो इस प्रसंग से बहुत जुड़े हुए है, इलाज कर रहे डा० बी० आर० सिन्हा, डा० आर० जी० रमैया, नाटंडम सिस्टर्स, फादर डेली (नवज्योति निकेतन), एन आयरीन, ब्रदर ज्वाय, जोसफ टी० डी०, संत माईकल फादर्स, इनकी आंखों में एक प्रश्न चिह्न निरन्तर है और अपने बिहारी होने पर शर्मिन्दा।

मैंने कई लेख लिखे—'अस्पताल के बीस दिन'—'हिन्दी ही मूल मंत्र', सागर सेभी गहरे, हिमालय से भी विशाल'—प्रकाशित करवाने की इच्छा न हुई क्योंकि उन सभी पाठकों को पत्र-पत्रिकाओं के विश्वास को तोड़ देगी। बात ठीक वैसी ही है, 'नमक परोसने वाला असली 'रसोइया' गिना जाता है। यह युग है, आप जितना झूठ, लूट और फूट कर सकते हैं।

आपकी
..........राव

☐ ☐ ☐

फादर कामिल बुल्के की अंतिम इच्छा दो थी—मृत्यु के पहले बाइबिल का अनुवाद पूरा कर लेना तथा यदि मृत्यु अनिवार्य है तो बेलजियम स्थित अपने गांव में पहुंच कर अंतिम सांस लेना।

दोनों अभिलाषाए पूरी न हो सकी। बाइबिल के 150 पृष्ठ अनूदित होने से रह गये और बेलजियम के राजदूत महोदय ने हवाई जहाज का प्रबंध बेलजियम के लिए करने की तैयारी शुरू की, लेकिन वह भी अंतिम स्थिति में।



जिन लोगों ने फादर बुल्के के पार्थिव शरीर को देखा या उनका कहना है कि लगता था कि वह महा-निद्रा में नहीं सोये है, झपकी ले रहे है और किसी भी क्षण उठकर बैठ जायेगे।

